''इतिशेष का आलोचनात्मक अध्ययन''

('ITISHESH' KA AALOCHNATMAK ADHYAYAN)

एम.फिल. (हिन्दी) की उपाधि हेतु लघु शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक

डॉ. रामचन्द्र

शोधार्थी

अंशिता शुक्ला

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2012

समर्पित

आदरणीय माता जी श्रीमती रेखा शुक्ला एवं पिता जी डॉ0 कमला कान्त शुक्ला जी को

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHAR LAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067, INDIA

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULURE STUDIES

Dated; - 26./07/2012

DECLARATION

I declare that the work done in this Dissertation entitle **"ITISHESH KA AALOCHNATMAK ADHYAYAN"** ***(CRITICAL STUDY OF 'ITISHESH')*** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

ANSHITA SHUKLA
(Research Scholar)

DR. RAM CHANDRA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. RAM BUX
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अनुक्रम

- भूमिका **i-iii**
- प्रथम अध्याय–आत्मकथा की परंपराः एक संक्षिप्त अवलोकन 1–34
  - 1.1 आत्मकथा का स्वरूप
  - 1.2 आत्मकथा का साहित्यिक महत्व
- द्वितीय अध्याय–इतिशेष का आलोचनात्मक अध्ययन 35–68
  - 2.1 लेखक का जीवन एवं साहित्यिक यात्रा
  - 2.2 इतिशेष की सामाजिक बुनावट
- तृतीय अध्याय–इतिशेष का शिल्प–विधान 69–80
- उपसंहार 81–82
- परिशिष्ट 83–85
- संदर्भ ग्रंथ सूची 86–91

भूमिका

आत्मकथा की गणना नवीन विधाओं में की जाती है किन्तु नवीन विधा होते हुए भी इसकी मांग लगातार बढ़ रही है। इसमें लेखक का जीवन पूरी प्रामाणिकता के साथ पाठकों के समक्ष आता है। इस कारण लेखक के व्यक्तिगत जीवन एवं तत्कालीन समाज से परिचित कराने में आत्मकथा मुख्य भूमिका निभाती है।

वर्तमान समय में जाति प्रथा तथा उच्च वर्ण की शोषण व्यवस्था को आधार बनाकर अनेक आत्मकथाएँ लिखी जा रही हैं, जिनमें दलित आत्मकथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। दलित लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से जाति प्रथा के उन्मूलन की बात लगातार कर रहे हैं, किन्तु जब दलित के साथ–साथ किसी ब्राह्मण लेखक द्वारा वर्णव्यवस्था तथा जाति प्रथा के उन्मूलन की बात की जाए तो यह हमें चौंकाने का कार्य करती है क्योंकि प्रारंभ से ही वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों को उच्च स्थान प्रदान किया गया है। इस कारण एक ब्राह्मण लेखक द्वारा जाति प्रथा की बुराईयों को दृढ़ता के साथ उजागर किया जाना यह दर्शाता है कि अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं व सभी वर्ण इस जाति व्यवस्था की बुराईयों को समझने लगे हैं। 'नीलकंठन नंपूतिरी' की आत्मकथा 'इतिशेष' एक ऐसी ही आत्मकथा है जो जाति प्रथा की बुराईयों पर प्रश्न खड़ा करती है। यह आत्मकथा लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ केरल के ब्राह्मण समाज, परंपरा एवं उसमें व्याप्त अंधविश्वासों से भी परिचित कराती है। लेखक ने अपने सम्पूर्ण जीवन में अनेक कठिनाईयों का सामना करते हुए उन पर विजय प्राप्त की, जिसके फलस्वरूप यह आत्मकथा हमें जीवन में आने वाले समस्याओं से डटकर मुकाबला करने की प्रेरणा प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह आत्मकथा केरल के आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर प्रकाश डालती है। मेरी रूचि प्रारंभ से ही आत्मकथा विधा में अधिक रही है क्योंकि इस विधा के माध्यम से लेखक को अधिक निकटता से जानने तथा समझने का अवसर प्राप्त होता है। एम0 फिल0 में प्रवेश लेने के पश्चात् 'नीलकंठन नंपूतिरी' की आत्मकथा 'इतिशेष' प्रकाशित

हुई, जिस पर मस्तराम कपूर ने एक लेख 'जनसत्ता' में प्रकाशित कराया था। लेख तथा आत्मकथा को पढ़कर मेरी इस विषय के प्रति रूचि जागृत हुई क्योंकि एक दलित लेखक के साथ–साथ एक दक्षिण भारतीय ब्राह्मण लेखक द्वारा वर्ण व्यवस्था की बुराईयों का वर्णन करना एवं उस पर प्रश्न खड़ा करना यह संकेत करता है कि लोग इससे मुक्त होना चाहते हैं। साथ ही साथ उच्च वर्ण के प्रभाव में रहते हुए लेखक ने किस प्रकार से इस समस्या पर विचार किया है व क्या समाधान प्रस्तुत किया है, इन सभी पहलुओं को इस लघु शोध प्रबंध में देखने का प्रयास किया है।

अभी तक इस विधा पर स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं हुआ है। इस पुस्तक पर किया जा रहा यह मेरा प्रथम शोध कार्य है। प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध का विषय 'इतिशेष का आलोचनात्मक अध्ययन' है, जिसमें लेखक के व्यक्तित्व को परखने के साथ–साथ केरल में दलितों की सामाजिक दशा और उस पर लेखक के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसकी भाषा तथा शिल्प पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है जिसमें प्रथम तथा द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत दो–दो उप अध्याय हैं। प्रथम अध्याय– 'आत्मकथा लेखन की परंपराः एक संक्षिप्त अवलोकन' के अन्तर्गत आत्मकथा के स्वरूप एवं उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में आत्मकथा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके प्रकार एवं अन्य विधाओं से इसकी तुलना की गई है। वर्तमान समय में आत्मकथा का महत्व लगातार क्यों बढ़ रहा है और पाठक इसे अधिक पढ़ना क्यों पसंद कर रहे हैं, इसको स्पष्ट करते हुए आत्मकथा के महत्व पर विचार किया गया है। साथ ही साथ इसके विकास पर भी दृष्टि डाली गई है। द्वितीय अध्याय– 'इतिशेष का आलोचनात्मक अध्ययन' के अन्तर्गत लेखक के जन्म और उनकी शिक्षा–दीक्षा, साहित्यिक कार्यकलाप के अतिरिक्त उनके जीवन संघर्ष, सफलता एवं असफलता का उल्लेख किया गया है। जीवन संघर्ष तथा जाति प्रथा की जटिलताओं की चक्की में यह भारतीय समाज किस प्रकार पिस रहा है इसको रेखांकित करते हुए लेखक ने पूरी वर्ण व्यवस्था पर प्रश्न उठाया है। यह प्रश्न केवल लेखक के व्यक्तिगत जीवन से संबंधित न होकर पूरे भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था

की बुराईयों से जुड़ा हुआ है। इन सभी समस्याओं का विश्लेषण इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय का शीर्षक 'इतिशेष का शिल्प विधान' है जिसमें शिल्प के अन्तर्गत भाषा तथा शैली पर विचार करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि लेखक की संवेदना को अभिव्यक्त करने में भाषा कितनी सफल हुई है और लेखक ने किस प्रकार की शैली का प्रयोग किया है। 'उपसंहार' के अन्तर्गत समस्त अध्यायों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध के लेखन में अनेक व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया है। इसमें सबसे पहले इस लघु शोध प्रबंध के प्रेरणास्त्रोत मेरी माता जी श्रीमती रेखा शुक्ला, पिता जी डॉ0 कमला कान्त शुक्ला एवं आदरणीय गुरू व निर्देशक डॉ0 रामचन्द्र जी हैं। उनके उदात्त एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की छाया में शोधकार्य करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने इस शोध कार्य की समाप्ति तक अपने मूल्यवान परामर्श मुझे दिए जिसके फलस्वरूप यह लघु शोध कार्य पूर्ण हो सका। दिल्ली से दूर केरल में रहते हुए भी 'नीलकंठन नंपूतिरी' जी ने सामग्री संकलन में मेरी अत्यधिक सहायता की। उन्यासी वर्ष की आयु पूर्ण कर चुकने के बावजूद लेखक की दृढ़इच्छा शक्ति एवं प्रेरणादायी शब्दों ने मुझे शोध कार्य को सफलतापूर्वक पूर्ण करने के लिए सदा प्रेरित किया। 'जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय', 'दिल्ली विश्वविद्यालय' और 'साहित्य अकादमी, दिल्ली' के पुस्तकालय एवं पुस्तकालयाध्यक्षों की मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इसके साथ–साथ आत्मीयजनों में लक्ष्मी सिंह, वैभव सिंह, राजवंत कौर, मीता सोलंकी, वंशीधर उपाध्याय, विजय कुमार सिंह, डॉ0 अमित शर्मा, डॉ0 शरद द्विवेदी, डॉ0 ईशा त्रिपाठी एवं देवेन्द्र त्रिपाठी ने समय–समय पर मानसिक संबल एवं आवश्यक परामर्श प्रदान करते हुए मेरा उत्साहवर्धन किया। इन सभी को मैं धन्यवाद देती हूँ।

अंशिता शुक्ला

प्रथम अध्याय

'आत्मकथा लेखन की परंपरा : एक संक्षिप्त अवलोकन

1.1 आत्मकथा का स्वरूप

1.2 आत्मकथा का साहित्यिक महत्व

1.1 आत्मकथा का स्वरूप

संसार के प्रत्येक व्यक्ति में कम या अधिक मात्रा में जिज्ञासा की प्रवृत्ति अवश्य होती है। जिज्ञासा की यह प्रवृत्ति व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के संबंध में भी हो सकती है। अगर यह किसी विशिष्ट या सामान्य व्यक्ति के संबंध में जागृत हुई हो तो उसे शान्त करने का सबसे उपयुक्त माध्यम आत्मकथा है, क्योंकि यह व्यक्ति के नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों पक्षों को पूरी निष्पक्षता एवं प्रामाणिकता के साथ सामने लाती है। यह व्यक्ति के जीवन संघर्ष, सफलता–असफलता, विश्वास एवं अनुभूतियों का प्रामाणिक दस्तावेज़ होती है जो पाठकों के लिए प्रेरणादायी होने के साथ–साथ रोमांचकारी भी है। आत्मकथा की विशेषता बताते हुए 'विनीता अग्रवाल' ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण' में कहा है कि–

'' एक सम्मोहन और कौतूहल होता है दूसरे व्यक्ति के अन्तरंग संसार में प्रवेश पाने का। यदि वह व्यक्ति विशिष्ट रहा हो और कुछ ऐतिहासिक महत्वपूर्ण घटनाओं का साक्षी भी, तो एक अनिवार्य किस्म की दिलचस्पी अपने संबंध में जगा लेने में सक्षम होता ही है, किन्तु यदि वह व्यक्ति नितान्त अविशिष्ट या बिल्कुल मामूली भी हो तो भी उसे समझने का हमारा एक अंतहीन कौतूहल होता है और उसकी तुष्टि निःसंदेह आत्मकथाएँ करती हैं।''[1]

आत्मकथा लेखन को अत्यन्त साहसिक कार्य माना जाता है क्योंकि कभी–कभी ऐसा भी होता है कि लेखक के जीवन से जुड़े अन्तरंग पक्षों के सामने आ जाने से विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिसके फलस्वरूप लेखक को परिवार तथा समाज में कई बार आलोचना का शिकार बनना पड़ता है। अतः विवाद की स्थिति से बचने के लिए कम ही लोग आत्मकथा लिखने का साहस कर पाते हैं। प्राचीन युग में आत्मप्रकाशन को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। महीप सिंह ने 'मोहनदास

नैमिशराय' की आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' की भूमिका में इसका कारण बताते हुए कहा है कि –

''आत्मकथा लिखने के लिये जिस प्रकार की स्पष्टता, प्रामाणिकता, निर्ममता और बेबाकी की आवश्यकता होती है वह भारतीय चरित्र में नहीं है। यह चरित्र बचपन से ही एक विशिष्ट प्रकार की संभ्रान्त मानसिकता से घिरी आदर्शात्मकता के घेरे में पनपता है। इसलिए यहाँ आत्मकथा जैसी सर्जनात्मक विधा का विकास नहीं हुआ क्योंकि यह विधा कई बार ऐसी नंगी सच्चाई को प्रकट करने का साहस माँगती है जो भारतीय (संभ्रान्त) चरित्र में बहुत कम सम्भव है।''[2]

इस कारण प्राचीन कवियों तथा लेखकों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कम जानकारी प्राप्त होती है। कहीं–कहीं पद्य की कुछ पंक्तियों के बीच कवियों ने अपना संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है, किन्तु उसे आत्मकथा का स्थान नहीं दिया जा सकता है। आगे चलकर 1641 ई0 में 'बनारसीदास जैन' ने पद्य में अपनी आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' लिखी, जिसे हिन्दी की पहली आत्मकथा माना जाता है। हिन्दी में आत्मकथा का पूर्ण रूप से विकास 19वीं शताब्दी के बाद हुआ।

आत्मकथा में लेखक से यह माँग की जाती है कि वह तटस्थ होकर घटनाओं को पाठकों के सामने रखें और उसका विश्लेषण करता चले। उसे आत्मप्रशंसा तथा परनिन्दा की प्रवृत्ति से बचते हुए आत्मकथा लेखन में प्रविष्ट होना चाहिए। आत्मकथा लेखन में आने वाली कठिनाईयों का उल्लेख करते हुए 'जवाहर लाल नेहरू' ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में कहा है कि–

''अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी कयोंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है और अगर अपनी तारीफ करें तो पाठकों को सुनना नागवार मालूम पड़ता है।''[3]

आत्माभिव्यक्ति के अनेक माध्यम जैसे–कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, संस्मरण आदि हो सकते हैं। किन्तु आत्मकथा के द्वारा व्यक्ति विशेष तथा उसके जीवन को जितनी गहराई से जाना जा सकता है, उतना अन्य विधाओं के माध्यम से नहीं। 'आत्मकथा' शब्द मूलतः अंग्रेजी शब्द 'Auto+Biography' से मिलकर बना है। हिन्दी में इसका विग्रह आत्मन् + कथा है जिसमें आत्मन् का अर्थ है स्व का या निज का और कथा का अर्थ है–कहानी। अर्थात् स्वयं के द्वारा लिखी गई अपने जीवन की कथा। संस्कृत में इसके लिये 'आत्मचरितम्' और 'आत्मवृत्तकथनम्' का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी में आत्मकथा के अतिरिक्त आत्मचरित्र, आत्मवृत्त, स्वकथा, आपबीती, आत्मवृत्तान्त आदि अनेक शब्द मिलते हैं। किन्तु सबसे अधिक 'आत्मकथा' ही प्रचलित है। उर्दू में आत्मकथा के लिये अरबी तथा फारसी शब्दों को मिलाकर 'खुदनविश्तसवानेहुउमरी' बना है जिसका अर्थ है ''जीवन की घटनाओं का स्वयं के द्वारा लिखा गया रूप।''[4]

आत्मकथा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न कोशों तथा लेखकों द्वारा अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। सर्वप्रथम हिन्दी तथा अंग्रेजी के कोशों में दी गई आत्मकथा की परिभाषा इस प्रकार है–

'हिन्दी साहित्य कोश' में आत्मकथा को जीवन के सिंहावलोकन के रूप में प्रस्तुत किया गया है–

'' आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना सम्भव है।''[5]

'साहित्य पारिभाषिक शब्द कोश' में आत्मकथा की संस्मरण डायरी आदि से तुलना करते हुये बतलाया गया है कि–

''लेखक के अपने जीवन से सम्बन्धित ब्यौरेवार विवरण संस्मरण डायरी पत्रावली आदि सभी प्रकार की रचनाएँ इस कोटि में आती है। आत्मकथा में लेखक के आन्तरिक जीवन या चरित्र पर अधिक बल होता है, संस्मरणों में बाह्य घटनाओं पर डायरी में अधिक आत्मीयता और स्पष्टवादिता होने पर भी क्रमबद्धता का अभाव रहता है और पत्रावली द्वारा एक विशेष प्रकार से और विशेष सन्दर्भ में ही लेखक के जीवन पर प्रकाश पड़ता है।''[6]

'वृहद हिन्दी कोश' में आत्मकथा का समास विग्रह करके इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है–

'' यह आत्मन् शब्द का समास में व्यवहृत रूप है, जिसका अर्थ है अपना, निज का, आत्मा का, मन का। कथा का अर्थ है जीवन–कहानी। अतः आत्मकथा का अर्थ हुआ स्वलिखित जीवन–चरित।''[7]

'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में ऑटोबायोग्राफी का अर्थ है–
'स्वयं के द्वारा लिखित अपने जीवन की कहानी।'[8]

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में आत्मकथा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–
'आत्मकथा व्यक्ति के जिए हुये जीवन का ब्यौरा है जो कि स्वयं उसके द्वारा लिखा जाता है।'[9]

'कैज़ल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर' में आत्मकथा की तुलना जीवनी लेखन के विभिन्न रूपों से करते हुए आत्मकथा को जीवनी से श्रेष्ठ माना गया है। जैसा कि–

'आत्मकथा व्यक्ति के जीवन का स्वयं के द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्णन है। इसमें जीवनी के अन्य प्रकारों की अपेक्षा सत्य की अधिक संभावना होती है।'[10]

कोश के अतिरिक्त अलग–अलग विद्वानों ने भी आत्मकथा को परिभाषित किया है। पंजाबी लेखिका 'अमृता प्रीतम' ने जहाँ आत्मकथा को 'यथार्थ से यथार्थ'[11] तक पहुँचने की प्रक्रिया माना है वहीं 'हरिवंश राय बच्चन' ने इसे 'जीवन की तस्वीर'[12] कहा है। 'पोद्दार रामावतार अरूण' ने आत्मकथा के विषय में कहा है कि–

''आत्मकथा का शाब्दिक जलप्रपात बुद्धि से नहीं, अन्तःकरण से निकलता है। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि के प्रणयन में कला कौशल की आवश्यकता पड़ती है किन्तु आत्मकथा उदात्त साहस और पूरी ईमानदारी के बिना शायद लिखी ही नहीं जा सकती है। इसलिए तो एक ओर जहाँ एक ही युग में 'रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखो गोय' कहा गया तो दूसरी ओर 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' भी।''[13]

'देवेन्द्र सत्यार्थी' ने आत्मकथा को साहित्य और कला की वस्तु के साथ–साथ ऐतिहासिक दस्तावेज़ भी माना है–

'' आत्मकथा को 'टू इन वन' क्यों न कहा जाए साहित्य और कला की वस्तु होने के साथ–साथ इतिहास की सौगात अथवा दस्तावेज़ कहना रचना के मूल्यांकन के अनुरूप होगा।''[14]

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आत्मकथा से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष उभरकर सामने आते हैं–

- आत्मकथा का विषय स्वयं लेखक होता है।
- आत्मकथा में लेखक स्वयं के जिये हुए क्षणों को स्मृति के आधार पर शब्दबद्ध करता है।
- आत्मकथा लेखन के लिए निडरता, स्पष्टता, निष्पक्षता तथा ईमानदारी आदि गुणों का होना आवश्यक है।

• जीवन की वास्तविक घटनाओं पर आधारित होने के कारण इसमें कल्पना का स्थान गौण होता है।

• आत्मकथा लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ तत्कालीन समाज तथा संस्कृति से भी परिचित कराती है।

अन्ततः हम यह कह सकते हैं कि आत्मकथा लेखक के अन्तःजगत को सामने लाने का सबसे सशक्त एवं उपयुक्त माध्यम है। यह बाह्य जगत से होती हुई अन्तःजगत में प्रवेश करती है और लेखक के चरित्र, स्वभाव, परिवेश, जीवन से संबंधित समस्त घटनाओं एवं संघर्षों से पाठकों को परिचित कराती है।

आत्मकथा के तत्त्व

आत्मकथा में अनेक तत्त्वों का समावेश होता है। इन तत्त्वों के अभाव में आत्मकथा का अस्तित्व सम्भव नहीं हैं। जिस प्रकार मनुष्य इन्द्रियों के बिना अधूरा है उसी प्रकार आत्मकथा भी कथातत्त्व, आत्मतत्त्व, परिवेश आदि के अभाव में अधूरी है। निबन्ध, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि के समान आत्मकथा के भी कुछ आवश्यक तत्त्व होते हैं अन्तर केवल अनुपात एवं प्रधानता का है। जैसे आत्मकथा, रिपोर्ताज में कथातत्त्व, पात्र, परिवेश तथा उद्‌देश्य की प्रधानता होती है तो निबन्ध में उद्‌देश्य तथा विषय–वस्तु की और उपन्यास व कहानी में कथावस्तु, चरित्र–चित्रण तथा संवाद की। यद्यपि आवश्यकता सभी तत्त्वों की है, लेकिन अनुपात और प्रधानता के कारण कुछ तत्त्व मुख्य तथा गौण हो जाते हैं। आत्मकथा के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं–

कथावस्तु

प्रत्येक विधा में कथावस्तु की प्रधानता होती है। कहानी, उपन्यास आदि अन्य विधाओं के समान आत्मकथा में भी कथावस्तु विद्यमान होती है। अन्तर केवल यह है कि

जहाँ अन्य विधाओं की कथावस्तु में लेखक अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है वहीं आत्मकथा में उसे यह छूट नहीं होती है क्योंकि यह उसके वास्तविक जीवन पर आधारित होती है और उन्हें उसी रूप में क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत करना होता है। उसकी विषयवस्तु वह स्वयं अर्थात् लेखक होता है। बाल्यकाल से लेकर आत्मकथा लेखन में प्रवृत्त होने तक लेखक अपने जीवन से सम्बन्धित उन अंशों को पाठकों के समक्ष रखता है जो अनावृत्त और उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होते हैं।

पात्र

आत्मकथा की विषयवस्तु का केन्द्र लेखक होता है इसलिए आत्मकथा का प्रमुख पात्र भी लेखक ही होता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी पात्र सहायक पात्र होते हैं जो लेखक के व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और विभिन्न घटनाओं से सम्बन्धित होते हैं। कभी–कभी ऐसा भी होता है जब लेखक अपनी अपेक्षा अन्य लोगों का अधिक वर्णन करता है, जिससे वहाँ आत्मपक्ष गौण हो जाता है। 'शिवरानी देवी' की आत्मकथा 'प्रेमचन्द घर में' ऐसी ही आत्मकथा है जिसमें कथा लेखिका के स्थान पर अन्य पात्रों को प्रधानता मिल गई है। जबकि इसके विपरीत 'अमृता प्रीतम' ने अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' में अपने पति तथा अन्य लोगों के विषय में भी लिखा है किन्तु प्रधानता उन्हीं की है।

वातावरण

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण की प्रमुख भूमिका होती है। आत्मकथा में लेखक मूलतः अन्तःजगत को सामने लाने का प्रयास करता है। इस कारण आत्मकथा में वातावरण तथा परिवेश को प्रायः कम महत्व दिया जाता है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्ति जिस परिवेश या वातावरण से जुड़ा होता है उसका प्रभाव उस व्यक्ति पर अवश्य पड़ता है। इसलिए इसके महत्व को पूर्णतया नकारा नहीं जा

सकता है। घरेलू वातावरण का चित्रण करते समय लेखक के बाल्यकाल के प्रसंग से तो प्रत्येक पाठक का सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसके साथ–साथ कुछ आत्मकथाएँ तो किसी विशेष घटना या इतिहास को प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उदाहरणस्वरूप 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की 'जूठन', 'मोहनदास नैमिशराय' की 'अपने–अपने पिंजरे', 'कौशल्या वैसंत्री' की 'दोहरा अभिशाप', 'श्यौराज सिंह बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधो पर', 'तुलसीराम' की 'मुर्दहिया' आदि ऐसी दलित आत्मकथाएँ हैं जो तत्कालीन समाज तथा दलित जीवन की सच्चाईयों को सामने लाती है। इसी प्रकार 'यशपाल' की 'सिंहावलोकन' सशस्त्र क्रान्ति तथा 'महात्मा गाँधी' की 'सत्य के प्रयोग' तत्कालीन राजनीति के इतिहास को बयान करती हैं। लेखक अपने परिवेश से किसी न किसी रूप में अवश्य जुड़ा होता है। परिवेश से बिना जुड़े उसका व्यक्तित्व अधूरा ही रहेगा। किन्तु परिवेश का चित्रण स्वाभाविक रूप से होना चाहिए नहीं तो लेखक के आत्म विश्लेषण में बाधा उत्पन्न हो जाएगी।

संवाद

आत्मकथा मुख्य रूप से लेखक पर केन्द्रित होने के कारण इसमें संवाद कम ही मिलते है। किसी घटना विशेष या व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित घटनाओं या वार्तालाप का वर्णन करते समय कहीं–कहीं अवश्य आते हैं। आत्मकथा के संवाद संक्षिप्त सरल, चुस्त एवं कथायात्रा के विकास में सहायक होने चाहिए, तभी वह महत्वपूर्ण होते है। इसके साथ–साथ संवाद ऐसे होने चाहिए जो अन्तर्द्वन्द एवं अंतर्मन की स्थिति को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर सके।

भाषा–शैली

भाषा–शैली की दृष्टि से अलग–अलग लेखकों की आत्मकथाओं में विभिन्नता देखने को मिलती है। जिस प्रकार की आत्मकथा एक रातनीतिज्ञ की होगी, वैसी

साहित्यकार की नहीं और जैसी साहित्यकार या सामान्य लेखक की होगी वैसी एक राजनीतिज्ञ या क्रान्तिकारी की नहीं। 'जानकी देवी बजाज' पूर्णतया निरक्षर थी उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' किसी और से लिखवाई थी। अतः उनकी भाषा तथा शैली थोड़ी भिन्न होगी। साहित्यिक आत्मकथाएँ थोड़ी सरस, रसात्मक एवं अलंकृत होती है जबकि राजनीतिक आत्मकथाओं की भाषा–शैली में सरसता के स्थान पर क्षिप्रता एवं बोझिलपन होता है। ये साहित्यिक आत्मकथाओं की तरह अलंकृत नहीं होती है। धार्मिक आत्मकथाओं की भाषा चिन्तन एवं दार्शनिकता से युक्त होती है। लेखक के व्यक्तित्व से उसकी भाषा तथा शैली दोनों प्रभावित होती है। आत्मकथा की शैली प्रायः 'मैं' प्रधान होती है और कहीं–कहीं वर्णनात्मक एवं संस्मरणात्मक शैली भी प्रयुक्त होती है। इसके साथ 'पूर्वदृश्य शैली' प्रायः हर आत्मकथा में प्रयोग में लाई जाती हैं क्योंकि वह वर्तमान में खड़े होकर अपने बीते हुए कल को देखता है। अर्थात् स्मृति के आधार पर वह घटित हो चुकी घटनाओं का पुनः स्मरण कर उसे प्रस्तुत करता है।

उद्देश्य

किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। आत्मकथा भी प्रायः किसी न किसी उद्देश्य को सामने रखकर लिखी जाती है। आत्मकथा लिखने के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं। जैसे कुछ लोग पाठकों को प्रेरणा देने और आत्मनिरीक्षण के लिये तो कुछ लोग तत्कालीन समाज, धर्म तथा राजनीति को प्रस्तुत करने तो कुछ लोग आत्मप्रशंसा एवं भोगे गए यथार्थ को सामने लाने के लिए आत्मकथा लिखते हैं।

इस प्रकार आत्मकथा के प्रमुख तत्त्वों में उपर्युक्त तत्त्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके बिना आत्मकथा लिखना संभव नहीं है।

अन्य विधाओं से भेद

हिन्दी में आत्मकथा के अतिरिक्त संस्मरण, रिपोर्ताज यात्रावृत्तान्त, डायरी, रेखाचित्र तथा जीवनी आदि अनेक विधाएँ प्राप्त होती हैं। ये सभी नवीन विधाएँ बाह्य रूप से एक समान प्रतीत होती हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अगर अध्ययन किया जाए तो सभी में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है। आत्मकथा का अन्य विधा से तुलनात्मक अध्ययन जरूरी है जिससे उसका स्वरूप स्पष्ट हो सके। आत्मकथा की अन्य विधा से तुलना इस प्रकार है–

आत्मकथा और जीवनी

आत्मकथा और जीवनी दोनों ही लेखक के जीवन से जुड़ी होती हैं तथा लेखक के व्यक्तिगत जीवन को प्रस्तुत करती हैं। किन्तु इनमें प्रमुख अन्तर यह है कि जब लेखक के द्वारा स्वयं अपने जीवनकाल का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया जाता है तब वह आत्मकथा का रूप ग्रहण करती है, जबकि जीवनी में इसके विपरीत लेखक के द्वारा जब किसी अन्य व्यक्ति का जीवन इतिहास बाल्यकाल से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रस्तुत किया जाता है। आत्मकथा एक ही व्यक्ति के द्वारा अपने जीवन काल में लिखी जाती है किन्तु एक ही पर आधारित जीवनी कई व्यक्ति के द्वारा अलग–अलग शैली में लिखी जा सकती है। साथ ही अन्य व्यक्ति के द्वारा लिखे जाने के कारण घटनाओं की प्रामाणिकता में कहीं–कहीं संदेह भी हो सकता है, जबकि आत्मकथा में लेखक स्वयं से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन करता है, इस कारण वह अप्रमाणिक नहीं होती है।

जीवनी लिखने का साहस कोई भी कर सकता है किन्तु आत्मकथा लिखने का साहस कम ही लोग करते हैं क्योंकि इसमें जीवन के उन पक्षों को सामने लाया जाता है, जिसे प्रस्तुत करने में लोग हिचकते हैं। इसके अतिरिक्त जीवनी 'पूर्ण' होती है जबकि आत्मकथा 'अपूर्ण' होती है। इस कारण इसे 'अपूर्ण कथा' भी कहते हैं। आत्मकथा लेखक

के द्वारा अपनी मृत्यु से पूर्व या जीवन काल के मध्य में लिखी जाती है, जिससे आत्मकथा लिखे जाने के बाद की कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ छूट भी जाती हैं। जैसे 'महात्मा गाँधी' की 'सत्य के प्रयोग' में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं जो आत्मकथा लिखे जाने के बाद घटित होने से छूट गई हैं। इस कारण किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तिगत जीवन का सम्पूर्ण इतिहास जानने के लिए 'जीवनी' ज्यादा उपयोगी होती है परन्तु अर्द्धकथा होने पर भी आत्मकथा अधिक प्रामाणिक होती है। इसके अतिरिक्त जीवनी लेखक व्यक्ति विशेष के विषय में प्राप्त तथ्यों के आधार पर लिखी जाती है जबकि आत्मकथा लेखक की स्मृति पर आधारित होती है। आत्मकथाकार अपने जीवन से संबंधित घटनाओं एवं प्रसंगों को जितनी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है, उतना जीवनी लेखक नहीं।

आत्मकथा और डायरी

हिन्दी में डायरी के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे– दैनिकी, दैनन्दिनी, दिन–पत्रिका आदि। लैटिन में इसके लिए 'Dirum' शब्द का प्रयोग होता है जो 'Dies' से बना है। 'Dies' का अर्थ है– एक दिन अर्थात् दिन–प्रतिदिन का विवरण। डायरी का स्वरूप इसी के आधार पर निर्मित हुआ है। डायरी को हम रोज़ की या दिन–प्रतिदिन की आत्मकथा कह सकते है।[15]

आत्मकथा और डायरी में कई समानताएँ देखने को मिलती हैं। डायरी तथा आत्मकथा दोनों में लेखक अपने जीवन का विवरण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु जहाँ डायरी में लेखक दिन– प्रतिदिन का विवरण लिपिबद्ध करता चलता है, वहीं आत्मकथाकार एक ही बार में समग्र जीवन का विवरण प्रस्तुत करता है। साथ ही आत्मकथा में जीवन की घटनाएँ क्रमबद्ध रूप में रखी जाती है और उनमें पूर्वापर सम्बन्ध होता है जैसे लेखक बाल्यकाल तथा परिवेश का वर्णन करने के उपरान्त अपने जीवन–संघर्षों एवं आगे की घटनाओं का विवरण देता है। क्रमबद्धता के साथ–साथ उसमें कुछ कलात्मकता अवश्य

होती है जो आत्मकथा को डायरी से अलग करती है। डायरी में लेखक उन घटनाओं एवं भावनाओं को लिखता है जिसको वह अन्य लोगों के समक्ष कह नहीं सकता है, जबकि आत्मकथाकार जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को छुपा भी लेता है जिन्हें वह दूसरों के सामने अभिव्यक्त नहीं कर पाता है।

डायरी में लेखक केवल वर्तमान परिस्थितियों एवं घटनाओं का जिक्र करता है जबकि आत्मकथा में भूतकाल से लेकर वर्तमान समय तक की घटनाओं को स्मृति के आधार पर लेखक अभिव्यक्त करता है। कुछ लोगों का यह मानना है कि डायरी आत्मकथा लेखन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि कभी–कभी सारी बातें एक साथ याद नहीं आती हैं जिससे कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ छूट जाती हैं, अतः डायरी में घटनाओं के समयानुसार दर्ज होने के कारण लेखक उन बातों को सरलता से लिख सकता है। उद्देश्य के आधार पर भी दोनों में भिन्नता देखने को मिलती है। डायरी व्यक्तिगत उपयोग एवं सन्तोष के लिए लिखी जाती है। उसका उद्देश्य पाठकों के सामने अपनी व्यक्तिगत भावनाओं एवं घटनाओं को सामने लाना नहीं होता है, जबकि आत्मकथा का उद्देश्य पाठकों को अपने जीवन एवं उससे सम्बन्धित घटनाओं से परिचित कराना होता है।

आत्मकथा और संस्मरण

'संस्मरण' के लिए अंग्रेजी में 'मेमोयर्स' एवं 'रिमैनिसेन्सेज' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'मेमोयर्स' के लिए चरित्र, विवरण, वृत्तान्त, संस्मरण, अनुसन्धान, लेख आदि शब्दों का प्रयोग होता है और 'रिमेनिसेन्सेज' के लिए स्मृति, याद, संस्मृति आदि शब्द मिलते हैं। हिन्दी में 'मेमोयर्स' और 'रिमैनिसेन्सेज' के लिए 'संस्मरण' का प्रयोग होता है। कहीं–कहीं इनके लिए 'आत्मपरक' एवं 'व्यक्तिपरक' आदि का प्रयोग होता है। आत्मकथा एवं संस्मरण दोनों में लेखक स्मृति के माध्यम से घटनाओं को प्रस्तुत करता है। आत्मकथा में लेखक स्वयं का विवरण देते हुए तत्कालीन परिवेश तथा अन्य व्यक्तियों एवं

घटनाओं को सामने लाता है जबकि संस्मरण में वह घटना तथा व्यक्ति के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। आत्मकथा में लेखक क्रमबद्ध रूप से समग्र जीवन को अभिव्यक्त करता है, संस्मरण में यह अभिव्यक्ति खण्ड रूप में और कुछ विशेष घटनाओं एवं व्यक्ति के विशेष सन्दर्भ में होती है। अर्थात् संस्मरण के माध्यम से लेखक किसी विशेष घटना या व्यक्ति से अपने सम्बन्ध एवं प्रभाव को दर्शाता है। 'विनीता अग्रवाल' आत्मकथा एवं संस्मरण में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि–

''आत्मकथाओं में जहाँ सारी क्रियाओं–प्रतिक्रियाओं का बिन्दु 'स्व' (मैं) होता है वहाँ संस्मरणों में यह बिन्दु पर होता है जिसका लेखकीय व्यक्तित्व से कभी निकट और कभी दूर का सम्बन्ध होता है।''[16]

आत्मकथा और आत्मकथात्मक उपन्यास

आत्मकथा तथा आत्मकथात्मक उपन्यास बाह्य रूप से और शैली की दृष्टि से एक समान प्रतीत होते है। आत्मकथा और आत्मकथात्मक उपन्यास और दोनों में 'मैं' शैली की प्रधानता होती है। परन्तु सूक्ष्म रूप से दोनों में अंतर अवश्य है। आत्मकथा पूर्ण रूप से सत्य पर आधारित होती है और लेखक से निष्पक्षता की माँग करती है। कभी–कभी ऐसा भी होता है जब लेखक अपनी बात या घटना को पाठक के समक्ष रखने का साहस नहीं कर पाता है। अतः ऐसी घटना को अभिव्यक्त करने के लिए वह कल्पना का प्रयोग कर उसे आत्मकथात्मक उपन्यास के माध्यम से सामने लाता है। 'अज्ञेय' की 'शेखर एक जीवनी', 'हजारी प्रसाद द्विवेदी' की 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'भालचन्द्र नेमाडे' की 'कोसला', 'कांता भारती' की 'रेल की मछली' आत्मकथात्मक उपन्यास के प्रमुख उदाहरण हैं। 'शेखर एक जीवनी' के उपन्यासकार 'अज्ञेय' से यह पूछे जाने पर कि 'क्या शेखर एक जीवनी' आपकी आत्मकथा है? तो जवाब में अज्ञेय ने जो उत्तर दिया उससे आत्मकथा एवं आत्मकथात्मक उपन्यास में अन्तर स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि–

''लेकिन इतना जरूर कहूँगा कि आत्मकथा को आत्मकथा में लिखने से बहुत ज्यादा आसान है उसे उपन्यास में लिपिबद्ध करना।''[17]

आत्मकथा और यात्रा साहित्य

हिन्दी में अनेक यात्रा साहित्य लेखकों के द्वारा लिखे गये हैं। इनमें 'राहुल सांस्कृत्यायन' और 'रामवृक्ष बेनीपुरी' के द्वारा लिखे गये यात्रा विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दोनों ही विधाएँ तथ्यात्मक तथा आत्मपरक होती हैं। आत्मकथाकार अपनी आत्मकथा में अधिक से अधिक अपने विषय में बतलाना चाहता है। वह अपने आस–पास के वातावरण समाज एवं अन्य घटनाओं का वर्णन भी आत्मकथा में उतनी ही सीमा तक करता है, जहाँ तक वे उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं या उसे प्रभावित करते हैं। जबकि यात्रा साहित्य में लेखक का मुख्य उद्देश्य यात्रा विवरण एवं उसके दौरान पड़ने वाले प्रभावों को अभिव्यक्त करना होता है। आत्मकथा में इसके विपरीत आत्मनिरीक्षण तथा आत्मविवेचन पर बल दिया जाता है। 'विश्वबन्धु शास्त्री' ने आत्मकथा और यात्रा साहित्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

''जब भी यात्रा–विवरण लेखक अपने अनुभव बर्हिमुख दृष्टि रखकर प्रस्तुत करता है, तो वह आत्मकथा के घेरे से बाहर हो जाता है। इसके विपरीत जब किसी लेखक के जीवन के यात्रानुभव उसके आत्म निर्माण में साधन रूपेण प्रयुक्त होकर गौण भाव से अंकित होते हैं और लेखक का प्रधान लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का वर्णन, विश्लेषण, विवेचन और निजी अनुभूतियों और आकांक्षाओं का संप्रेषण होता है, तभी वह रचना आत्मकथा बन पाती है।''[18]

आत्मकथा 'व्यक्ति' पर केन्द्रित होती है जबकि यात्रा साहित्य में 'असीमित विश्व' के विस्तार को प्रस्तुत किया जाता है। यात्रा साहित्य में बाह्य परिवेश, संस्कृति तथा प्रकृति का विस्तार से वर्णन किया जाता है, जिसके कारण यात्रा साहित्य लेखक की

भूमिका यहाँ केवल 'दृष्टा' के रूप में होती है और आत्मकथा लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन एवं स्वयं भोगी गई घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है। अतः वह भोक्ता के रूप में सामने आता है। इस प्रकार 'आत्मकथा' और 'यात्रावृत्तान्त' विषय तथा दृष्टिकोण के आधार पर एक–दूसरे से भिन्न होते हैं।

आत्मकथा और पत्र

अंग्रेजी में पत्र के लिए 'Letter' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी का 'Letter' शब्द लैटिन की 'लिट्रा' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है–वर्णमाला का अक्षर, लिखना आदि। आत्मकथा के समान पत्र भी लेखक के अन्तरंग पक्ष को सामने लाता है। पत्र लेखक की बेहद निजी वस्तु होती है और यह किसी विशेष व्यक्ति के समक्ष अपनी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने के प्रयोजन से लिखा जाता है। आत्मकथा तथा पत्र दोनों में ही लेखक आत्माभिव्यक्ति करता है और अपने जीवन से जुड़े महत्वपूर्ण प्रसंगों का विवरण देता है। फिर भी हम पत्र आत्मकथा का स्थान नहीं दे सकते हैं। आत्मकथा विस्तृत रूप में लेखक के सम्पूर्ण जीवन का इतिहास होती है जबकि पत्र का रूप अत्यन्त संक्षिप्त होता है और उसमें व्यक्तिगत भावनाओं तथा घटनाओं को विशिष्ट व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

पत्र अलग–अलग तरह से लिखे जाते हैं और उनका उद्‌देश्य भी भिन्न–भिन्न होता है। पत्र में लेखक कुछ विशिष्ट घटनाओं, स्थितियों तथा संवेदनाओं को अभिव्यक्त करता है। कभी–कभी यह प्रेरणा देने के उद्‌देश्य से भी लिखा जाता है। आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मकेन्द्रित होने के कारण पत्र आत्मकथा लेखन में सहायक हो सकता है किन्तु आत्मकथा का सशक्त साधन नहीं। 'बाबू गुलाब राय' ने पत्र और आत्मकथा के सम्बन्ध में लिखा है–

''पत्रों का स्थान एक प्रकार से आत्मकथा में ही आता हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मकथा में व्यक्ति का इतिहास सम्बद्ध होता है, पत्रों में कुछ असम्बद्ध सा रहता हैं।''[19]

आत्मकथा और रेखाचित्र

रेखाचित्र 'चित्रकला' का शब्द है। जिस प्रकार चित्रकला में विभिन्न आड़ी–तिरछी रेखाओं को मिलाकर एक चित्र बनाया जाता है उसी प्रकार साहित्य में लेखक शब्दों के माध्यम से जब किसी व्यक्ति, घटना या दृश्य का चित्रण करता है, तब वह हिन्दी में 'रेखाचित्र' या 'शब्दचित्र' या 'स्केच' कहलाता है। रेखाचित्र तथा आत्मकथा में प्रमुख अन्तर यह होता है कि रेखाचित्र में चित्रण की प्रधानता होती है और चित्रण के लिए वह शब्दों का सहारा लेता है जबकि आत्मकथा में वर्णन की प्रधानता होती है। साथ ही आत्मकथा की अपेक्षा रेखाचित्र संक्षिप्त और बाह्य वर्णन पर आधारित होती है। 'बनारसीदास चतुर्वेदी' ने रेखाचित्र, संस्मरण तथा आत्मचरित के विषय में कहा है कि–

''संस्मरण, रेखाचित्र, और आत्मचरित्र इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।''[20]

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि समान प्रतीत होने वाली इन विधाओं में कहीं न कहीं भेद अवश्य होता है।

आत्मकथा के प्रकार

प्रारम्भ में आत्मकथा को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। इस कारण कई वर्षों तक इस विधा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया। जिससे लेखकों ने इसे विकसित करने तथा वर्गीकृत करने का ज्यादा प्रयास नहीं किया। परन्तु आज यह उत्कृष्ट विधा के रूप

में सामने आ रही है क्योंकि कल्पना आधारित विधाओं को पढ़ने की अपेक्षा पाठक सत्य पर आधारित विधा को पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। वर्तमान समय में आत्मकथाओं को लेकर अनेक शोध कार्य किये जा रहे हैं। साथ ही इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए और इसे वर्गीकृत करने का प्रयास किया जा रहा है। अलग–अलग विद्वानों ने आत्मकथा को अपने–अपने ढंग से वर्गीकृत किया है। कुछ विद्वानों ने इसे अन्तरंग तथा बाह्य रंग दो भागों में, कुछ ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक आत्मकथा के आधार पर विभाजित किया है। परन्तु मुख्य रूप से आत्मकथा को हम निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं–

1. अनूदित आत्मकथाएँ
2. राजनीतिक आत्मकथाएँ
3. साहित्यिक आत्मकथाएँ
4. धार्मिक आत्मकथाएँ

1. अनूदित आत्मकथाएँ–

सर्वप्रथम आत्मकथा को मूल एवं अनूदित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी में मौलिक आत्मकथाओं के साथ–साथ अनेक अनूदित आत्मकथाएँ प्राप्त होती हैं जिनका अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद हुआ है। इनमें बंगाली, मराठी, गुजराती आत्मकथाएँ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी लेखकों के द्वारा लिखित आत्मकथाओं का भी अनुवाद मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि मूल भाषा में लिखी गई आत्मकथा अनूदित आत्मकथा की अपेक्षा ज्यादा अच्छी होती हैं क्योंकि उसमें लेखक के मूलभाव तथा व्यक्तित्व की झलक देखने को मिलती है किन्तु अनूदित रचना में यह सम्भव नहीं होता है। अनुवादक की छाप भी मूल पर अवश्य पड़ती है। फिर भी हम इन आत्मकथाओं के महत्व को नकार नहीं सकते हैं। अनूदित आत्मकथाओं में 'महात्मा गाँधी' की 'सत्य के प्रयोग', 'जवाहर लाल नेहरू' की 'मेरी कहानी' , 'सुभाष

चन्द्र बोस' की 'तरूण के स्वप्न', 'अमृता प्रीतम' की 'रसीदी टिकट' प्रमुख है। 'महात्मा गाँधी' की आत्मकथा का अनुवाद 'श्री हरिभाऊ उपाध्याय' औार 'नेताजी सुभाष चन्द्र बोस' की आत्मकथा का अनुवाद 'गिरीश चन्द्र जोशी' ने किया। इसके अतिरिक्त भारतीय लेखकों में 'काका कालेलकर', 'विनायक दामोदर सावरकर', 'डॉ0 राधाकृष्णन', 'रवीन्द्र ठाकुर', 'कर्तार सिंह दुग्गल', 'कर्णसिंह' तथा विदेशी लेखकों में 'हिटलर' , 'टॉलस्टॉय', 'खान अब्दुल गफ्फार खाँ', 'जूलियस फ्यूचिक', 'हैलेन केलर' की आत्मकथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

साहित्यिक आत्मकथाएँ

हिन्दी में अनेक साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। साहित्यकारों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ उनके व्यक्तित्व के साथ–साथ उनके साहित्यिक जीवन, समाज पारिवारिक परिवेश एवं उनके संघर्षों से पाठक को परिचित कराती हैं, जिससे पाठक, लेखक एवं उसकी रचना से अधिक आत्मीयता का अनुभव करते हुए उससे प्रेरित भी होता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में सबसे पहले 'बनारसी दास जैन' ने 'अर्द्धकथानक' नामक आत्मकथा लिखी, जिसका स्वरूप पद्यात्मक है। इससे पूर्व कवियों ने कविता के माध्यम से कहीं–कहीं स्वयं का संक्षिप्त वर्णन अवश्य किया है, परन्तु उसको आत्मकथा की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है तथा भारतेन्दु युग के पूर्व तक कोई आत्मकथा नहीं मिलती है। इसका सही ढंग से विकास भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हुआ। साहित्यिक आत्मकथाओं में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' की 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती', 'श्यामसुन्दर दास' की 'मेरी आत्म कहानी', 'अम्बिका दत्त व्यास' का 'निज वृत्तान्त', 'बाबू गुलाब राय' की 'मेरी असफलताएँ', 'भवानीदयाल संन्यासी' की 'प्रवासी की आत्मकथा', 'वियोगी हरि' की 'मेरा जीवन प्रवाह', 'यशपाल' की 'सिंहावलोकन', 'शान्तिप्रिय द्विवेदी' की 'परिवाज्रक की प्रजा', 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' की 'अपनी खबर' 'देवेन्द्र सत्यार्थी' की 'चाँद सूरज के बीरन', 'सेठ गोविन्द दास' की 'आत्म–निरीक्षण', 'शिवपूजन सहाय' की 'मेरा बचपन', 'अमृतलाल नागर' की 'टुकड़े–टुकड़े दास्तान', 'डॉ0 देवराज' की 'बचपन के दो दिन',

'वृन्दावन लाल वर्मा' की 'अपनी कहानी', ' हरिवंश राय बच्चन' की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर, 'दशद्वार से सोपान तक', 'प्रणव कुमार बन्द्योपाध्याय' की 'विदा बन्धु', 'पोद्दार रामावतार अरूण' की 'अरूणायन', दलित लेखकों में 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की, 'जूठन', 'सूरजपाल सिंह चौहान' की 'तिरस्कृत' तथा 'संतप्त', 'श्यौराज सिंह बैचेन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', 'तुलसीराम' की 'मुर्दहिया', 'सुशीला टाकभौरे' की 'शिकंजे का दर्द' एवं स्त्री लेखिकाओं के द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में 'प्रभा खेतान' की 'अन्या से अनन्या', 'मैत्रेयी पुष्पा' की 'गुड़िया भीतर गुड़िया' व 'कस्तूरी कुण्डली बसै', 'कृष्णा अग्निहोत्री' की 'लगता नहीं है दिल मेरा', 'पद्मा सचदेव' की 'बूंद बावड़ी', 'मन्नू भंडारी' की 'एक कहानी यह भी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राजनीतिक आत्मकथाएँ

हिन्दी आत्मकथा साहित्य पर राजनीति का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। राजनीति आत्मकथाओं के विषय में 'विनीता अग्रवाल' ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण' में कहा है कि–

''सामान्यतः आत्मकथा कृति ही प्रमाण है कि व्यक्ति होता ही नहीं बल्कि बनता और बनाया भी जाता है। राजनीतिक आत्मकथाओं के सन्दर्भ में यह बात और स्पष्टता से सामने आती है कि व्यक्तित्व का अस्तित्व इनका होना (Being) दरअसल बनना (Becoming) की प्रक्रिया में होता है। अस्तु, व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व होता है और वह बनता और बनाया भी जाता है।.....राजनीतिक आत्मकथा एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण घटना प्रवाह को एक भागीदार की दृष्टि–बिन्दु से देखने का प्रयास है।''[21]

राजनीतिक आत्मकथा में लेखक व्यक्तिगत वर्णन के साथ–साथ तत्कालीन समाज एवं उन घटनाओं का भी जिक्र होता है जो लेखक के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होती

है। राजनीतिक आत्मकथाओं को प्रायः दो तरह से विभाजित किया गया है, इनमें पहली आत्मकथाएँ वे हैं जो गाँधी की अहिंसात्मक विचारधारा से प्रभावित है, जबकि दूसरे प्रकार की आत्मकथाएँ अहिंसा के विपरीत क्रान्तिकारी चेतना से युक्त हैं। राजनीतिक आत्मकथाओं में 'महात्मा गाँधी' की 'सत्य के प्रयोग', 'राजेन्द्र प्रसाद' की 'आत्मकथा, 'भवानीदयाल संन्यासी' की 'प्रवासी की आत्मकथा', 'जानकी देवी बजाज' की 'मेरी जीवन–यात्रा', 'आबिद अली', की 'मजदूर से मिनिस्टर', 'जवाहर लाल नेहरू' की 'मेरी कहानी', 'मोरारजी देसाई' की 'मेरा जीवन वृत्तान्त' आदि महत्वपूर्ण राजनीतिक आत्मकथाएँ हैं।

धार्मिक आत्मकथाएँ

कुछ आत्मकथाएँ ऐसी भी प्राप्त होती हैं जिनका झुकाव धर्म की ओर होता है। इन आत्मकथाओं के माध्यम से लेखक ने अपने द्वारा जीवन में किये गए अच्छे तथा बुरे कर्मों का उल्लेख करते हुए पाठकों को अच्छे कर्मों को ग्रहण करने तथा बुरे कर्मों से दूर रहने पर बल दिया है। 'विनीता अग्रवाल' ने इस विषय में कहा है कि–

''यह एक महत्वपूर्ण कारण है कि धर्म को समर्पित व्यक्तियों ने भी अपने सम्बन्ध में कुछ कहने बताने एवं अपने द्वारा किये गये पापों से दूसरों को बचाने के लिए आत्मकथाओं को आत्मस्वीकृति का माध्यम बनाया है।''[22]

धार्मिक आत्मकथाओं में स्वामी श्रद्धानन्द 'संन्यासी' की 'कल्याण मार्ग का पथिक', 'श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी' की 'मेरी जीवन गाथा', 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती' की 'मेरा जीवन संघर्ष', 'चन्द्रभूषण वैश्य' की 'अपनी बात', 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' की 'आत्मचरित' प्रमुख धार्मिक आत्मकथाएँ हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से लेखकों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार हुए करते पाठकों की धार्मिक संवेदना को उद्‌बुद्ध करने का कार्य किया है।

इस प्रकार विविध क्षेत्रों से सम्बद्ध लोगों ने अपनी–अपनी आत्मकथाओं के द्वारा अपने जीवन एवं कार्यों को लिपिबद्ध किया। राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों के अतिरिक्त फिल्म, खेल, उद्योग, न्याय आदि क्षेत्रों से जुड़े लोगों की आत्मकथाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। आत्मकथा लेखन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इस कारण इसे किसी एक परिधि में बाँधना सम्भव नहीं है। किन्तु अध्ययन की दृष्टि से इसे उपर्युक्त आधार पर विभाजित किया जा सकता है। अंततः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में आत्मकथा का महत्वपूर्ण स्थान है और जीवन की वास्तविक एवं प्रामाणिक घटनाओं पर आधारित होने के कारण यह धीरे–धीरे लेखकों तथा पाठकों की पसंदीदा विधा बनती जा रही है।

1.2 आत्मकथा का साहित्यिक महत्व

''जिसके अरूण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है इस थके पथिक की पंथा की
सीवन उधेड़कर देखोगे क्या खाली कंथा की
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ''[23]

आत्मकथा के सम्बन्ध में जयशंकर प्रसाद की उपर्युक्त पंक्तियाँ यह संकेत करती हैं कि आत्मकथा लिखने के लिए सबसे महत्वपूर्ण है–सच को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने का साहस। अगर लेखक में इसका अभाव है तो मौन रहना ही ज्यादा उचित है। क्योंकि एक बार लेखनी चल जाने पर अनेक राज खुलने एवं विवाद की स्थिति उत्पन्न होने का भय रहता है। 'पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' से जब आत्मकथा लिखने के लिए कहा गया तब उन्होंने इसके लिखे जाने के बाद सामने आने वाली कठिनाईयों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि–

''लिख तो डालूँ लेकिन जीवित महाशयों की बिरादरी अंध भक्त बिरादरी का बड़ा भय हैं। बहुतों के बारे में सत्य प्रकट हो जाए तो उनके यश और जीवन का चिराग ही लुप लुप करने लगे। कुछ तो मरने–मारने पर भी अमादा हो सकते हैं।''[24]

इस कारण आत्मकथा लेखन का साहस कम ही लोग करते हैं। 1932 ई0 में 'हंस' का 'आत्मकथा विशेषांक' प्रकाशित करते समय जब 'प्रेमचन्द' ने विभिन्न रचनाकारों से अपनी आत्मकथा लिखने को कहा तब उस समय बहुत थोड़े से लोगों ने अपनी

आत्मकथा लिखने का साहस किया। साथ ही जो वर्णन उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त संक्षिप्त तथा अधूरा है। आत्मकथा के साहित्यिक महत्व पर विचार करने पर सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि वर्तमान समय में जब मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध हैं, तब आत्मकथा जैसी विधा पढ़ने की क्या आवश्यकता है? पाठक कहानी, उपन्यास या नाटक ही क्यों न पढ़े?

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि आत्मकथा एक ऐसी विधा है जिसमें लेखक का वैयक्तिक जीवन पूरी प्रामाणिकता के साथ उभरकर सामने आता है। सत्यता, स्पष्टतावादिता एवं निष्पक्षता आदि गुणों से युक्त होने के कारण ही अन्य विधाओं से अधिक यह विश्वसनीय होती है। साथ ही लेखक के जीवन तथा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को जानने में यह अत्यन्त सहायक होती है। इस कारण पाठक आत्मकथा को पढ़ना अधिक पसन्द करते है। 'श्री एम0 सी0 छागला' ने उन सभी व्यक्तियों को अपने जीवन के अनुभव लिखने के लिए प्रेरित किया जिन्होंने साफ–सुथरा जीवन व्यतीत किया है और विभिन्न क्षेत्रों में अनुभव प्राप्त किया है, जिससे आगे चलकर लोग उनके उन अनुभवों से प्रेरणा ग्रहण कर सकें। उनका मानना है कि कई बार स्वयं के अनुभव न लिख पाने के कारण कई महत्वपूर्ण व्यक्ति से सम्बन्धित घटनाओं एवं उनके अनुभवों का ज्ञान नहीं हो पाता है।[25]

साहित्य की अन्य विधाएँ जैसे–कविता, उपन्यास कहानी आदि कवि की कल्पना पर आधारित होती हैं। इसमें लेखक अपनी इच्छानुसार परिवर्तन के लिए स्वतन्त्र होता है किन्तु आत्मकथा का कल्पना रहित एवं ईमानदारी व स्मृति पर आधारित होना इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। 'पोद्दार रामावतार अरूण' अपनी आत्मकथा 'अरूणायन' में आत्मकथा को कल्पना रहित जीवन का सत्यांकित इतिहास बताते हुए इसे अन्य विधाओं से अलग स्थान प्रदान किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है कि–

''कल्पना के सहयोग के बिना काव्य, उपन्यास और कहानी का उत्कृष्ट सृजन सम्भव नहीं। किन्तु आत्मकथा में कल्पना की मात्रा जितनी रहेगी, उतनी ही वह अविश्वसनीय मानी जाएगी। इसलिए आत्मकथा व्यक्ति के संघर्षमय जीवन का वह सत्यांकित इतिहास है, जो स्वयं मेघ की तरह उमड़कर बरस जाता है जो स्वयं फूल की तरह खिलकर झड़ जाता है।''[26]

हिन्दी साहित्य में प्रायः आत्मकथा के विकास को विभिन्न चरणों में विभाजित किया गया है, किन्तु 'विनीता अग्रवाल' द्वारा किया गया वर्गीकरण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, इन्होंने आत्मकथा के विकास को चार चरणों में विभाजित किया है–

1. प्रथम चरण– 1600–1875
2. द्वितीय चरण–1876–1946
3. तृतीय चरण–1947–1968
4. चतुर्थ चरण–1969 से वर्तमान युग तक

प्रथम चरण के अन्तर्गत आने वाली आत्मकथाएँ 'बनारसी दास जैन' की 'अर्द्धकथा' एवं 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' की 'आत्मचरित' हैं। द्वितीय चरण में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'एक कहानीः कुछ आप बीती कुछ जग बीती', 'श्याम सुन्दर दास' की 'मेरी कहानी', 'अम्बिका दत्त व्यास' की 'निज वृत्तान्त', 'स्वामी श्रद्धानन्द' की 'कल्याण मार्ग का पथिक', 'भवानी दयाल संन्यासी' की 'हमारी कारावास कहानी', 'हरिभाऊ उपाध्याय' की 'साधना के पथ पर', 'रामप्रसाद बिस्मिल' की 'आत्मकथा', 'बाबू गुलाबराय' की 'मेरी असफलताएँ', 'राहुल सांस्कृत्यायन' की 'मेरी जीवन यात्रा' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'तृतीय चरण' में 'बाबू राजेन्द्र प्रसाद' की 'आत्मकथा', 'भवानीदयाल संन्यासी' की 'प्रवासी की आत्मकथा', 'यशपाल' की 'सिंहावलोकन', 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती' की 'मेरा जीवन संघर्ष', 'सत्यदेव परिवाज्रक' की 'स्वतंत्रता की खोज में', 'गंगा प्रसाद' की 'मेरी आत्मकथा', 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' की 'अपनी खबर', 'शान्तिप्रिय

द्विवेदी' की 'परिवाज्रक की प्रजा', 'देवेन्द्र सत्यार्थी की 'चाँद सूजन के बीरन', 'संतराम बी0 ए0' की 'मेरे जीवन के अनुभव', 'कालिदास कपूर' की 'मुदर्रिस की रामकहानी' आदि सम्मिलित हैं। चतुर्थ चरण की आत्मकथाओं में 'हरिवंश राय बच्चन' की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ, 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर', 'दशद्वार से सोपान तक', 'डॉ0 देवराज' की 'यौवन के द्वार पर भाग–दो', 'मोरार जी देसाई' की 'मेरा जीवन वृत्तान्त', 'बलराज साहनी' की 'मेरी फिल्मी आत्मकथा', 'मोहनदास नैमिशराय' की 'अपने–अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि' की 'जूठन', 'कौशल्या वैसंत्री' की 'दोहरा अभिशाप', 'सूरजपाल चौहान' की 'तिस्कृत' तथा 'संतप्त', 'श्यौराज सिंह बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधो पर', 'तुलसीराम' की 'मुर्दहिया', 'सुशीला टाकभौरे' की 'शिकंजे का दर्द', 'रमणिका गुप्ता' की 'हादसे', 'कृष्णा' अग्निहोत्री' की 'लगता नहीं दिल मेरा' का प्रमुख स्थान है।

ये आत्मकथाएँ हमें लेखक के व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक एवं साहित्यिक जीवन से परिचित कराती हैं। आत्मकथा ही एक ऐसी विधा है जिसमें लेखक स्वतंत्र होकर अपने मनोभावों तथा जीवन की घटनाओं को खुलकर पाठकों के समक्ष रखता है। विभिन्न लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं में परिवार, बचपन, प्रेम सम्बन्ध , विवाह एवं तत्कालीन समाज और राजनीति से जुड़े ऐसे प्रसंगो को पाठकों के समक्ष रखा है, जिससे वे अनभिज्ञ थे। आत्मकथाओं के माध्यम से प्रायः लेखक के व्यक्तित्व एवं उनकी साहित्यिक यात्रा की भी जानकारी प्राप्त होती है, जो अन्य माध्यमों से सम्भव नहीं है। 'हरिवंशराय बच्चन' की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के माध्यम से उनकी काव्य यात्रा की शुरूआत के कारणों पर प्रकाश पड़ता है। जैसा कि–

''कायस्थ पाठशाला में ही मैंने अपनी पहली पूरी हिन्दी कविता लिखी किसी अध्यापक के विदाभिनंदन पर, जब मैं सातवीं में था तो थोड़ी बहुत तुकबन्दी मैंने ऊँचा मण्डी स्कूल में ही शुरू कर दी थी। विश्राम तिवारी जब निबन्ध लिखाते तब कहते, अन्त में कोई दोहा लिख देना चाहिए। विषय से सम्बन्ध दोहा याद न होने पर मैं स्वयं कोई उनके रचकर लगाा देता था। इन्ही दोहों में मेरे काव्य का उद्‌गम हुआ।''[27]

इसके अतिरिक्त विभिन्न काव्य संग्रहों के नामकरण एवं उसके लिखे जाने के कारणों का उल्लेख भी आत्मकथा में मिलता है। जैसे 'गांधी जी' की शहादत पर 'हरिवंश राय बच्चन' ने मर्सिया की ट्यून में एक कविता लिखी जो 'सूत की माला' नामक काव्य संग्रह में संकलित है। मर्सिया लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने मोहल्ले में मोहर्रम के दिन होने वाले मर्सिया ख्वानी से मिली। मर्सिया ट्यून में लिखी गई यह इनकी एकमात्र लंबी कविता है। इसी तरह अपनी पत्नी 'श्यामा' की मृत्यु पर 'हरिवंशराय बच्चन' जी ने 'आरती और अंगारे' में एक कविता लिखी है। आत्मकथा में लेखक पूर्ण रूप से स्वतंत्र होकर अपनी जीवन की घटनाओं का उल्लेख करता है। 'हरिवंशराय बच्चन' ने अपनी आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में 'कर्कल–चंपा' के प्रसंग को और 'अन्या से अनन्या' में 'प्रभा खेतान' ने 'डॉ0 साहब' के साथ अपने संबंधों को जितनी बेबाकी और खुले ढंग से प्रस्तुत किया है, उसके लिए आत्मकथा सबसे उपयुक्त विधा है। 'अन्या से अनन्या' में 'प्रभा खेतान' निःसंकोच 'डॉक्टर साहब' के साथ अपने प्रेम सम्बन्धों को उजागर करती हुई स्वयं का परिचय इस प्रकार देती हैं। जैसा कि–

'' मैं क्या लगती थी डॉ0 साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई? प्रियतमा मिस्ट्रेस शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकती क्योंकि एक पत्नी पहले से मौजूद थी। वे बाल–बच्चों वाले व्यक्ति थे। पिछले बीस सालों से मैं उनके साथ थी मगर किस रूप में .....?..... मैं तो खुद कमाती थी, स्वावलम्बी थी, एक आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी। हाँ डाक्टर साहब से प्यार जरूर करती थी। मैंने स्वेच्छा से अपने इस अकेले जीवन का वरण भी किया।''[28]

यहाँ पर प्रभा खेतान ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण व्यक्तिगत अंशों को जितनी तटस्था एवं ईमानदारी के अपनी प्रस्तुत किया है, वैसा कहानी या उपन्यास के मायध्म से सम्भव क्या संभव है? लेखकों के द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ आगे आने वाले कवियों तथा समीक्षकों के लिए अनेक जानकारी उपलब्ध कराती हैं। जिसके फलस्वरूप

इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। जैसा कि 'विश्वबन्धु शास्त्री' ने कहा है कि–

'' प्रेमचन्द्र , 'अम्बिका दत्त व्यास', 'रवीन्द्र नाथ ठाकुर', 'वृन्दावन लाल वर्मा, 'अरूण' , 'हरिवंश राय बच्चन', 'अमृता प्रीतम', 'उपेन्द्र नाथ अश्क', 'चतुरसेन शास्त्री', 'सेठ गोविन्द दास', 'के0 एम0 मुन्शी' व 'राहुल' आदि श्रेष्ठ साहित्यकारों की आत्मकथाओं ने सुचारूतया भावी समीक्षकों का पथ प्रशस्त कर दिया है। अब उन्हें तथ्यानुसंधान के लिए पहेलियाँ बूझने की आवश्यकता अनुभव नहीं होगी।''[29]

आत्मकथाकारों के जीवन संघर्षों को पढ़कर पाठकों को अपने जीवन में आने वाली समस्याओं का सामना करने की प्रेरणा मिलती हैं। 'नीलकण्ठन नंपूतिरी' की आत्मकथा 'इतिशेष' ऐसी ही आत्मकथा है जिसमें लेखक का अदम्य उत्साह तथा दृढ़ निश्चय पाठकों को अपने जीवन में आने वाली कठिनाईयों से जूझने की दृढ़ इच्छाशक्ति प्रदान करता है। अपनी स्कूली शिक्षा के दौरान लेखक को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था किन्तु उन्होंनें हार नहीं मानी और अपना अध्ययन जारी रखा। जैसा कि उन्होंने कहा है कि–

''और कोई होता तो इस अपमानजनक स्थिति से बचकर भाग जाता और अन्य नंपूतिरी बालकों की तरह बेकार घूमता। लेकिन मैंने स्कूल नहीं छोड़ा। मैंने सोचा कि इतने वर्षों के बाद एक ऐसा मार्ग खुल गया है जिसमें आगे बढ़ना या पीछे हटना केवल मार्गचारी की इच्छा पर निर्भर है, अन्य व्यक्तियों और परिस्थितियों पर नहीं जैसे तैसे स्वयं को निरुत्साहित नहीं होने देना है।''[30]

लेखक का यह कथन हमारे अंदर उत्साह एवं आशा का संचार करते हुए कठिन परिस्थितियों का दृढ़ता से सामना करने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्राचीनकाल में

ऋषियों ने ऋचाओं के माध्यम से आगे आने वाली पीढ़ी को अच्छे कर्मों के अनुकरण की प्रेरणा दी है। जैसा कि तैतरीय उपनिषद् में ऋषियों ने कहा है–

''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।''[31]

अर्थात् हमारे जो अच्छे आचरण हैं, तुम उन्हीं का अनुसरण करना और जो बुरे आचरण हैं उनसे दूर रहना। इसी तरह आत्मकथा भी हमें अच्छे तथा बुरे कर्मों के विषय में अन्तर स्पष्ट करती हुई हमारा मार्गदर्शन भी करती है। आत्मकथा लिखते समय लेखक साहित्य के अतिरिक्त समाज से भी हमें परिचित कराता है। वह तत्कालीन समाज तथा परिवेश का वर्णन अपनी आत्मकथा में अवश्य करता है क्योंकि वह स्वयं भी उससे प्रभावित होता है। जैसा कि 'डॉ0 मैनेजर पाण्डेय' ने रचना के सामाजिक महत्व के विषय में कहा है कि–

''लेखक पाठकों की चेतना व्यापक बनाता है, उनकी संवेदनशीलता परिष्कृत करता है और उन्हें समाज तथा जीवन के बारे में नई दृष्टि देता है। प्रत्येक आत्मकथाकार द्वारा लिखी गई आत्मकथा में हमें अलग–अलग समाज तथा संस्कृति का ज्ञान होता है।''[32]

दलित लेखकों द्वारा लिखी आत्मकथा का इस दृष्टि प्रमुख स्थान है क्योंकि ये आत्मकथाएँ वंचित एवं शोषित समाज का ऐसा चित्र सामने लाती है, जो बहुत से लेखकों की दृष्टि से दूर था। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की 'जूठन' में समाज का जैसा वर्णन पूरी तटस्थता के साथ किया है, वैसा अन्य विधाओं में सम्भव नहीं है। जैसा कि–

''अस्पृश्यता का ऐसा महौल कि कुत्ते–बिल्ली, गाय भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इन्सानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर फेंको।''[33]

इस प्रकार आत्मकथा लेखक के जिए हुए जीवन के साथ–साथ पूरे समाज की तस्वीर को सामने लाती है। इसमें लेखक का जीवन पूरी सत्यता के साथ उभरकर सामने आता है। साथ ही इसका कल्पनारहित होना ही सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। 'विश्वबन्धु शास्त्री' ने आत्मकथा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि–

'' आत्मकथा इतिहास न होकर भी पाठकों के लिए इतिहास से भी अधिक विश्वसनीयता प्रदान करती है। क्योंकि इतिहास का सत्य आकड़ों का सत्य होता है, जो केवल तार्किक बुद्धि की संतुष्टि कर सकता है। आत्मकथा का सत्य भावना का सत्य होने से पाठकों के अन्तर्मन में झंकृति उत्पन्न करने में समर्थ होता है।''[34]

संदर्भ सूची –

1. ' हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण'–'विनीता अग्रवाल', सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989, पृ0 सं0 1।

2. 'अपने–अपने पिंजरे'–'मोहन दास नैमिशराय', भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995।

3. 'मेरी कहानी'–'जवाहर लाल नेहरू', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली तेरहवां संस्करण, 1993, पृ0 सं0 15 ।

4. 'हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण'–'विनीता अग्रवाल', सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989, पृ0 सं0 3

5. 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग–1, लेखक–अजित कुमार, पृ0 सं0 41, ज्ञानमंडल लि0, वाराणसी 2020 सं0।

6. साहित्यिक पारिभाषिक शब्दकोश, प्रो0 महेन्द्र चतुर्वेदी, प्रो0 तारक नाथ बाली, बुक्स एण्ड बुक्स–77, टैगोर पार्क–दिल्ली, संस्करण–1992, पृ0 सं0 31।

7. वृहद हिन्दी शब्दकोश, संपादक– 'कलिका प्रसाद', ज्ञानमंडल लिमिटेड 1969, बनारस।

8. "A story of one's life written by himself"
'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी', वाल्यूम–एक, पृ0 573।

9. "An autobiography is the account of an individual human life, written by the subject himself."
' इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', वॉल्यूम–2, पृ0 सं0 85।

10. "Autobiography is the narration of man's life written by himself. It should contain a greater guarantee of truth than any other form of biography."
कैज़ल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर', 'एस0 एच0 स्टेनस्पर्ग', वाल्यूम–1, 1953, पृ0 सं0, 62।

11. 'रसीदी टिकट', 'अमृता प्रीतम', पराग प्रकाशन, दिल्ली 1993, पृ0 सं0 149।

12. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'हरिवंश राय बच्चन', राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली 1995, पृ0 सं0 1।

13. 'अरूणायन', 'पोद्दार रामावतार अरूण', भूमिका से उद्धृत, अनुपम प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना 1947।

14. 'चांद सूरज के बीरन', 'देवेन्द्र सत्यार्थी', (प्रस्तावना खोई हुई पहचान), एशिया प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1953।

15. 'हिन्दी आत्मकथाएँः सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण', 'विनीता अग्रवाल', सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 8।

16. वही, पृ0 सं0 15।

17. दृष्टव्य है, वही, पृ0 सं0 17।

18. 'हिन्दी का आत्मकथा साहित्य', 'विश्वबन्धु शास्त्री', राधा प्रकाशन, सीताराम बाज़ार, दिल्ली–6, प्रथम संस्करण 1984, पृ0 सं0 102।

19. 'काव्य के रूप', 'बाबू गुलाब राय', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली 1958, पृ0 सं0 260।

20. 'हिन्दी का गद्य साहित्य', 'डॉ0 रामचन्द्र तिवारी', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, छठां संस्करण 2007, पृ0 सं0 416।

21. 'हिन्दी आत्मकथाएँः सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण', सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 235।

22. वही, पृ0 सं0 215।

23. 'प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य', 'जयशंकर प्रसाद', लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली 2008, पृ0 सं0 337।

24. 'अपनी खबर', 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0 सं0 11।

25. "I believe that if a man has lived a fairly full life and has had experience in diverse fields, he should write about them so that his readers, could either derive positive benefit or learn how to avoid pit and falls into which they might otherwise fall, many of our great leaders have not left for posterity a record of their experiences; the success they achieved the manner of achieving it and the obstacles they had to meet and overcome."
दृष्टव्य है, 'कमलेश भट्ट', 'हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 सं0 50।

26. 'अरूणायन', 'पोद्दार रामावतार अरूण', भूमिका से उद्धृत, अनुपम प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना 1947।

27. 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'हरिवंश राय बच्चन', राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली 1995, पृ0 सं0 129।

28. 'अन्या से अनन्या', 'प्रभा खेतान', राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 8–9।

29. 'हिन्दी का आत्मकथा साहित्य', 'विश्वबन्धु शास्त्री', राधा प्रकाशन, सीताराम बाज़ार, दिल्ली–6, प्रथम संस्करण 1984, पृ0 सं0 6 ।

30. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, प्रथम संस्करण, पृ0 सं0 65।

31. दृष्टव्य है, 'हिन्दी का आत्मकथा साहित्य', 'विश्वबन्धु शास्त्री', राधा प्रकाशन, सीताराम बाज़ार, दिल्ली–6, प्रथम संस्करण 1984, पृ0 सं0 18।

32. 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', 'डॉ0 मैनेजर पाण्डेय', हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, तृतीय संस्करण 2006, पृ0 सं0 18।

33. 'जूठन', 'ओमप्रकाश वाल्मीकि', राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2006, पृ0 सं0 12।

34. 'हिन्दी का आत्मकथा साहित्य', 'विश्वबन्धु शास्त्री', राधा प्रकाशन, सीताराम बाज़ार, दिल्ली–6, प्रथम संस्करण 1984, पृ0 सं0 6।

द्वितीय अध्याय

इतिशेष का आलोचनात्मक अध्ययन

2.1 लेखक का जीवन एवं साहित्यिक यात्रा

2.2 इतिशेष की सामाजिक बुनावट

2.1 लेखक का जीवन एवं साहित्यिक यात्रा

नीलकंठन नंपूतिरी का जन्म फरवरी 1933 ई0 में केरल के 'कोट्टयम' जिले के 'वैकम नगर' में एक नंपूतिरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम 'श्री नारायणन नंपूतिरी' तथा माता का नाम 'देवकी नंपूतिरी' था। वे अपने माता–पिता के इकलौते पुत्र थे। उनके पिता ने दो विवाह किए थे। जिसमें उनकी पहली पत्नी से नीलकंठन और उनकी बहन का जन्म हुआ और दूसरी पत्नी से उनके बड़े भाई का जन्म हुआ जो उम्र में नीलकण्ठन से नौ माह बड़े थे।[1]

नीलकंठन की आरम्भिक शिक्षा–दीक्षा विद्यारम्भ संस्कार के साथ घर पर प्रारम्भ हुई। उनके पिता कट्टर ब्राह्मणवादी विचारधारा के थे। यद्यपि उनके पिता अंग्रजी शिक्षा के विरोधी नहीं थे किन्तु उनका मानना था कि रोजी–रोटी कमानी है तो उसके लिए स्कूल में अन्य जाति के बच्चों के साथ शिक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही ट्यूशन मास्टर लगाकर करवाया गया। उन्होंने आत्मकथा में कहा है कि उनके प्रारम्भिक शिक्षक 'पद्मनाभ पिळ्ळा' थे जिनकी गणना धाकड़ अध्यापकों में की जाती थी। उन्होंने उनको मलयालम, अंग्रजी और गणित की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान की जिसके कारण लेखक उन्हें एक कुशल अध्यापक के रूप में याद करते हैं।[2]

भारत में प्राचीन शिक्षा परम्परा के अनुसार बालक का सर्वप्रथम उपनयन संस्कार किया जाता था। उपनयन का शाब्दिक अर्थ है–पास ले जाना। पिता बालक को आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए ले जाता है और गायत्री मंत्र का उपदेश देता है। यह संस्कार बालक का दूसरा जन्म माना जाता है। उपनयन के अन्त में आचार्य बालक को उसकी दिनचर्या के बारे में यह उपदेश देता है कि तुम अब ब्रह्मचारी हो। दैनिक कार्यों से जल का आचमन करो। अपना कार्य विधिवत करो। दिन में मत सोना। नित्य

समिधा का हवन करो, भिक्षा से अन्न का संग्रह करो। साफ जंगल से ईधन लाओ। घड़े में पानी भी भरकर लाओ। आचार्य के अधीन रहकर वेद का अध्ययन करो।[3] उपनयन के पश्चात् बालक आचार्य के गुरुकुल में रहकर उनकी सेवा करते हुए शिक्षा ग्रहण करता है। शिक्षा पूरी होने के बाद आश्रम में प्रवेश करता है। लेखक के अनुसार प्राचीन भारतीय परंपरा में शिक्षा का यही स्वरूप था किन्तु वर्तमान समय में उपनयन संस्कार समाप्त हो चुका है, उसका स्थान यज्ञोपवीत संस्कार ने ले लिया है। तमिल ब्राहमणों ने 'यज्ञोपवीत संस्कार' को 'पुणूल कल्याणम्' नाम दिया है।

आज 'उपनयन संस्कार' की प्रथा पूर्णतया औपचारिक हो गई है किन्तु इस पर प्रश्न कम ही लोग उठाते हैं कि केवल बालकों या पुरूषों का ही उपनयन संस्कार क्यों होता है, किसी लड़की या स्त्री का उपनयन संस्कार क्यों नहीं किया जाता है? उसे यह अधिकार क्यों नहीं प्राप्त है? इतिहासकारों ने यह बताया है कि वैदिक युग में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था किन्तु आगे चलकर उनसे यह अधिकार छीन लिया गया। कुछ लोगों का यह मानना है कि स्त्रियाँ अशुद्ध होती हैं, इस कारण जनेऊ धारण करने का अधिकार सिर्फ पुरूषों को ही है। यह कैसी विडम्बना है कि जिस बालक का जन्म स्त्री के द्वारा होता है, उसे ही अशुद्ध कहकर उपनयन संस्कार से वंचित रखा जाता है। इन्हीं संस्कारों के कारण स्त्री तथा पुरूष में सदैव भेदभाव किया जाता रहा है और आज भी यही हो रहा है। 'इतिशेष' में भी लेखक ने उपनयन संस्कार की प्रकिया का समग्र रूप से चित्रण किया है और विस्तार से उसकी चर्चा भी की है, किन्तु कहीं भी उन्होंने इन संस्कारों पर प्रश्न नहीं उठाया है, ऐसा क्यों?

आठ वर्ष की आयु में लेखक का उपनयन संस्कार हुआ था और यह उस पीढ़ी के अन्तिम कड़ी हैं। जिसमें उपनयन के बाद समावर्तन तक के तीन से अधिक वर्षों के जीवन को निष्ठापूर्वक और कठोर अनुशासन के अधीन व्यतीत करना अनिवार्य समझा जाता था। किन्तु अब गुरु के पास जाकर शिक्षा ग्रहण करने की प्रथा समाप्त हो चुकी है। इस कारण घर पर ही कुल पुरोहित से उन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन किया। उपनयन

संस्कार के कठोर नियमों तथा व्रतों के कारण स्कूल जाकर औपचारिक शिक्षा ग्रहण करना सम्भव नहीं था, जिसके फलस्वरूप इनकी औपचारिक शिक्षा में विघ्न पड़ा।

घर पर विष्णु सहस्त्रनाम , पुरूषसूक्त , भाग्यसूक्त , विष्णु , शिव , दुर्गा आदि देवताओं की पूजाविधि और सामान्य हवन विधि का ज्ञान उन्होंने अपने पिताजी से प्राप्त किया।[4] लेखक की प्रारम्भिक शिक्षा पर इनकी माँ का ज्यादा प्रभाव नहीं रहा था किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात् शिक्षा के व्यय का वहन उन्होंने ही किया। लेखक को पौरोहित्य की शिक्षा प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया गया। समावर्तन के पश्चात् ये संस्कृत के अध्ययन हेतु अपने मामा 'नारायणन नंपूतिरी' के पास गए। वहाँ से वापस आने के पश्चात् अपने पिता के एक मित्र 'श्रीधरन तंपी' के विद्यालय में अंग्रजी शिक्षा प्राप्त करने हेतु प्रवेश लिया किन्तु यह विद्यालय कुछ ही दिनों के बाद बन्द हो गया और वे अपने एक मामा के पास अंग्रेजी पढ़ने के लिए जाने लगे। किन्तु यहाँ भी निराशा हाथ लगी। लेखक ने शिक्षा की इस अवधि को अपनी प्रगति में बाधक मानते हुए कहा है कि–

''अगर प्रारम्भ में इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने में न फँसता तो वह उचित आयु में स्कूली शिक्षा सही समय में पूरी करके किसी अच्छी नौकरी में प्रवेश करता।''[5]

इस प्रकार लेखक को प्रारम्भ से ही शिक्षा के लिए लगातार संघर्ष करना पड़ा। प्रायः यह माना जाता है कि बचपन आत्मकथा का सबसे आकर्षक तथा मोहक अंश होता है किन्तु जीवन के इस मोहक अंश में लेखक को सदैव अपनी शिक्षा के लिए प्रयासरत रहना पड़ा और पिता की आकस्मिक मृत्यु ने उनके प्रारम्भिक जीवन को और कठिन बना दिया।

सतत शिक्षा प्राप्त करने के लिए संघर्षरत लेखक के जीवन में एक नया मोड़ आया जो परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ। इसी समय 'महात्मा गाँधी' भारत के स्वतंत्रता संग्राम

के एक अंग के रूप में हिन्दी प्रचार आन्दोलन को परिकल्पित किया। उन्होंने अपने युवा पुत्र 'देवदास' को सबसे पहले हिन्दी के प्रचार के लिए चेन्नई भेजा था। बाद में उत्तर भारत से 'सर्वश्री रघुवर दयालु मिश्र', 'अवधनन्दन', 'देवदूत विद्यार्थी' आदि को प्रमुख हिन्दी प्रचारक के रूप में दक्षिण भारत भेजा गया। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना 1927 ई0 में की गई। केरल के सबसे पहले हिन्दी प्रचारक 'के0 दामोदरन उण्णी' थे जो उत्तर भारत में संस्कृत के शिक्षक थे। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' का अनुरोध मानकर वे केरल में हिन्दी प्रचार के लिए आए। गाँधी जी द्वारा केरल में चलाए गए हिन्दी प्रचार कार्यक्रम से प्रभावित होकर लेखक ने 1944 ई0 में हिन्दी का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। बिना किसी औपचारिक या स्कूली शिक्षा के उन्होंने हिन्दी का अध्ययन जारी रखा और नवम्बर 1944 ई0 में प्राथमिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसी समय नीलकंठन के पिता बीमार पड़े और दिसम्बर 1944 ई0 के अन्त में उनकी मृत्यु हो गई। पिता के साथ अपने सम्बन्ध को बतलाते हुए लेखक ने कहा है कि–

''उस समय पिता और पुत्र का सम्बन्ध आज के नाभिकीय परिवारों की तुलना में कुछ भिन्न ही था। आज इस रिश्ते की निकटता और आत्मीयता कुछ अधिक दिखाई देती है। परन्तु मुझमें अपने पिताजी के साथ आत्मीयता के स्थान पर भय–मिश्रित आदर का भाव ही अधिक था।''[6]

धीरे–धीरे आगे चलकर पिता–पुत्र के सम्बन्धों में थोड़ा परिवर्तन होने लगा था और कुछ विषयों पर खुलकर बातचीत भी होने लगी थी किन्तु तब उनके पिता ही चल बसे। इस विषम परिस्थिति में भी उन्होंने हिन्दी का अध्ययन जारी रखा और फरवरी 1945 ई0 में हिन्दी की 'मध्यमा परीक्षा' और अगस्त में 'राष्ट्रभाषा परीक्षा' उत्तीर्ण की। पिता की मृत्यु के पश्चात् उनके बड़े भाई व लेखक की जिम्मेदारी इनके मामा पर आ गई। यद्यपि बारह वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी लेखक की औपचारिक शिक्षा प्रारम्भ नहीं हुई थी तत्पश्चात् एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण लेखक को स्कूली शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। एक बार लेखक अपने बहनोई के साथ वडक्कुकूर परिवार की

एक वरिष्ठ सदस्या की साठवीं वर्षगांठ में शामिल होने गये। इनके बहनोई 'श्री गोविन्द नंपूतिरी' इस परिवार के मुख्य पुरोहित थे। इसी दौरान लेखक की मुलाकात परिवार के सदस्य 'राजराज वर्मा राजा' से हुई जो संस्कृत और मलयालम के प्रकांड विद्वान थे। लेखक के बहनोई से बात करते हुए उन्हें जब यह पता चला कि वे स्कूल नहीं जाते और पौरोहित्य की उच्चतर विधियों में प्रशिक्षण ले रहे हैं, इस पर राजा ने रूष्ट होकर कहा–

''इतना सुनना था कि राजा महोदय आग बबूला हो गए और मेरे बहनोई पर बरस पड़े। उन्होंने पूछा कि यदि आपके ससुर की मृत्यु हुई तो क्या आप यह समझते हैं कि इन दो मासूम बच्चों के भविष्य से आप खेल सकते हैं? क्या आप यह नहीं देख रहे हैं कि जमाना बदल गया है? जाति महत्व और जमींदारी की धौंस अस्त होती जा रही? जब इनके हम उम्र बच्चे स्कूली शिक्षा प्राप्त करके अपने भविष्य को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न में हैं तो क्या आप चाहते हैं कि आपके अभिभावकत्व में पलते ये बच्चे जीवन की होड़ में पिछड़ जाएँ।''[7]

इस प्रकार राजा के इस उपालम्भ से लेखक की स्कूली शिक्षा प्रारम्भ हुई किन्तु उनको प्रवेश छोटे क्लास यानी प्रिपरैटरी में मिला जिसके फलस्वरूप उन्हें छोटे बच्चों के साथ शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। अपने से कम आयु के बच्चों के साथ बैठकर शिक्षा ग्रहण करने में लेखक को शर्म आती थी किन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। जैसा कि वह स्वयं कहते हैं–

''और कोई होता तो इस अपमानजनक स्थिति से बचकर भाग जाता और अन्य नंपूतिरी बालकों की तरह बेकार घूमता। लेकिन मैंने स्कूल नहीं छोड़ा। मैंने सोचा कि इतने वर्षों के बाद एक ऐसा मार्ग खुल गया है जिसमें आगे बढ़ना या पीछे हटना केवल मार्गचारी की इच्छा पर निर्भर है, अन्य व्यक्तियों और परिस्थितियों पर नहीं।''[8]

लेखक का यही स्वभाव पूरी आत्मकथा में देखने को मिलता है। वे परिस्थितियों से घबराकर वे निरुत्साहित होने वाले व्यक्ति नहीं हैं। लेखक अपनी औपचारिक शिक्षा के साथ–साथ हिन्दी भाषा का अध्ययन भी जारी रखा। अगस्त 1946 ई0 में उन्होंने हिन्दी भाषा की 'प्रवेशिका परीक्षा' पास करके 'राष्ट्रभाषा विशारद्' की तैयारी प्रारम्भ की। उस समय 'राष्ट्रभाषा विशारद्' की दो परीक्षाएँ होती थी– पहली लिखित तथा दूसरी मौखिक। भारत के आजाद होने के साथ ही 1947 ई0 में उन्होंने राष्ट्रभाषा विशारद् की लिखित परीक्षा में सफलता प्राप्त की किन्तु मौखिक में ये असफल हो गए, किन्तु उन्होंने अपने प्रयास को जारी रखा और अगले साल 1948 ई0 में मौखिक परीक्षा पास कर हिन्दी भाषा के हाईस्कूल के शिक्षक बनने की योग्यता प्राप्त कर ली। आश्चर्य की बात यह है कि जिस समय यह इस योग्य हुए उस समय वह मिडिल स्कूल की निम्नतम कक्षा के विद्यार्थी थे। क्योंकि उस समय राष्ट्रभाषा विशारद् के बाद 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की कोई उच्चतर परीक्षा नहीं होती थी। इस कारण कुछ समय के लिए उनके हिन्दी अध्ययन में गतिरोध आ गया और उन्होंने हिन्दी अध्यापन की शुरूआत की। प्रारम्भ में ये घर पर ही हिन्दी पढ़ाते थे। उनकी पहली शिष्या एक अध्यापिका थी जो राष्ट्रभाषा परीक्षा की तैयारी कर रही थी। इसके साथ ही गर्मियों की छुट्टियों में अपने स्कूल के एक छोटे से कमरे में वे अपनी कक्षा चलाते थे। यहाँ एक महीने तक उन्होंने हिन्दी प्रचारक का भी दायित्व निभाते हुए केरल में हिन्दी भाषा के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसी बीच 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' ने 'राष्ट्रभाषा प्रवीण' के नाम से एक उच्चतर परीक्षा की शुरूआत की। मिडिल परीक्षा के साथ ही उन्होंने 'राष्ट्रभाषा प्रवीण' तथा 'तिरूवितांकुर विश्वविद्यालय' की 'हिन्दी विद्वान' की परीक्षा पास की और 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के प्रामाणिक प्रचारक के रूप में कार्य करते रहे।[9]

यद्यपि बड़ी उम्र में उन्होंनें स्कूली शिक्षा प्रारम्भ की थी किन्तु कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी प्रतिभा से समस्त अध्यापकों को प्रभावित कर लिया। मिडिल परीक्षा पास करने के पश्चात् उन्होंने वैकम के 'श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्' द्वारा स्थापित नये

हाईस्कूल में प्रवेश लिया और अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाईयों का सामना करते हुए 1953 ई0 में मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आगे की पढ़ाई के लिए उन्होंने ऋण लेकर 'एरणाकुलम' के 'महाराज कालेज' में प्रवेश लिया और यहीं से इण्टर, बी0 एस0 सी0 आनर्स तथा एम0 एस0 सी0 की परीक्षा गणित विषय में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। हिन्दी के प्रति विशेष रूचि लेखक को प्रारम्भ से ही रही है। इस कारण आगे चलकर 'हिमाचल प्रदेश विश्वविद्याालय' से पत्राचार पाठ्यक्रम के माध्यम से हिन्दी से एम0 ए0 की परीक्षा पास की।

इस प्रकार लेखक ने लगातार संघर्ष करके अपनी औपचारिक शिक्षा समाप्त की और नौकरी कि लिए प्रयास करना आरम्भ किया। कई जगह आवेदन करने के उपरान्त अन्त में उन्हें 'सनातन धर्म कालेज' में जून 1958 ई0 को नियुक्ति मिली। यहाँ अध्यापन कार्य करते हुए उनका 'केरल लोक सेवा आयोग' में 'सांख्यिकीय निरीक्षक' तथा साथ में 'संघ लोक सेवा आयोग' के शिक्षा मंत्रालय में 'अनुसंधान सहायक' के पद पर चयन हो गया। जिसमें उन्होंने 'संघ लोक सेवा आयोग' के 'अनुसंधान सहायक' का पद स्वीकार किया और 'केरल लोक सेवा आयोग' के 'सांख्यिकीय निरीक्षक' के पद से इस्तीफा दे दिया। 'अनुसंधान सहायक' के पद पर नियुक्त होने के कुछ वर्ष पश्चात् इनका विवाह प्रतिष्ठित नंपूतिरी परिवार की 'सावित्री' नामक लड़की के साथ हुआ, जिनसे उनको एक पुत्री तथा एक पुत्र हुआ। 'केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग' में तैंतीस वर्ष के अपने कार्यकाल के दौरान लेखक को कई बार आशा तथा निराशा के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु उन्होंने कभी अपने उत्साह को कम नहीं होने दिया तथा विभिन्न पदों पर रहते हुए हर दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन किया। अपने कार्यकाल के दौरान उनकी मुलाकात 'डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा' से हुई थी जिन्होंने उनका उचित मार्ग दर्शन किया। सेवानिवृत्त होने के पश्चात् यह वापस 'वैकम नगर' में आकर रहने लगे। किन्तु इस दौरान उन्हें स्वजनों के असामयिक देह वियोग का सामना करना पड़ा। इनकी माँ की 95 वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु के बाद उनकी माँ की प्रेरणा के परिणामस्वरूप लेखक उन्नति की ओर अग्रसर हो सके थे। माँ की मृत्यु

के कुछ वर्ष पश्चात् उनकी पुत्रवधू का 1998 ई0 में कैंसर की बीमारी से निधन हो गया। इसी बीच इनके बड़े भाई के दो पुत्रों की अलग–अलग दुर्घटना में मौत हो गई, जिसके कारण तीसरे भतीजे के पालन–पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया और उसकी उचित शिक्षा–दीक्षा का प्रबंध किया।

इस प्रकार लेखक को अपने सम्पूर्ण जीवन में कभी सफलता और कभी असफलता के दौर से गुजरना पड़ा। किन्तु वह अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति व अपने मित्रों के सहयोग से लगातार आगे बढ़ते रहे। सेवानिवृत्त हो जाने के बाद भी वे लेखन कार्य में सक्रिय हैं। साहित्य के प्रति विशेष रूचि होने के कारण उन्होंने अपनी शिक्षा–दीक्षा के दौरान अनेक लेख एवं कविताएँ लिखी हैं। साहित्यिक क्षेत्र में लेखक के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। गणित के विद्यार्थी होने पर भी उनका हिन्दी के प्रति विशेष लगाव उन्हें साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए बाध्य करता है। लेखक ने किसी एक विधा में बंधकर रचना नहीं की। उन्होंने कविता, नाटक, कथकली, आलोचना, कोश निर्माण सभी में अपना योगदान दिया। उनकी इसी प्रतिभा से प्रभावित होकर 'डॉ0 राजेन्द्र नारायण' ने कहा है–

''पूरी आत्मकथा में लेखक के व्यक्तित्व के कई गुण प्रकाशित होते हैं। वह विद्वान, भाषाविद्, गणितज्ञ, कोशकार, लेखक, कवि, समीक्षक, शोधार्थी, अभिनेता, संगठनकर्त्ता और प्रशासक हैं। उसमें संघर्ष की अदम्य क्षमता तथा धैर्य और संतोष के दुर्लभ गुण हैं।''[10]

अपने साहित्यिक कार्यकलाप के दौरान लेखक ने अनेक संगोष्ठियों में भाग लिया। साथ ही विभिन्न लेखकों एवं मलयालम साहित्य से संबंधित लेख भी लिखे हैं जिनमें 'आधुनिक मलयालम कविता में मानवता' और 'भारतीय संस्कृति के राजदूतः सरदार के0 एम0 पणिक्कर' पर लिखित लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सरदार के0 एम0 पणिक्कर' से संबंधित लेख में उन्होंने उनके जीवन एवं साहित्यिक योगदान का

वर्णन किया है। इसके साथ उनकी 'जीव श्रृंखला' तथा 'सर्विस' कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने 'जी0 शंकर कुरूप' की कुछ कविताओं का पद्यानुवाद भी किया है और 'सुमित्रानंदन पंत' पर मलयालम में लेख भी लिखा है। उनकी नाटकों में भी विशेष रुचि रही थी। इस कारण कुछ नाटकों का मंचन करने के साथ–साथ उन्होंने उसमें अभिनय भी किया। अभिनय के अतिरिक्त उनकी 'कथकली' में भी विशेष रुचि थी। जैसा कि उन्होंने कहा है –

''मेरा एक और कार्यक्षेत्र कथकली से संबंद्ध था। इस शास्त्रीय दृश्यकला के प्रति मुझे बचपन से ही रुचि थी और हम लोग रात भर जागरण करके कथकली का आस्वादन करते थे।''[11]

आगे चलकर दिल्ली में 'अंतराष्ट्रीय कथकली केन्द्र' की स्थापना हुई, जिसमें लेखक को समिति का सदस्य बनाया गया। उन्होंने समिति के एक अन्य सदस्य एवं मलयालम के प्रसिद्ध कवि 'श्री पी0 नारायण कुरूप' के साथ मिलकर दो नई कथाओं की रचना की थी जिनका सफलतापूर्वक मंचन किया गया था। इनमें से एक 'सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला' की 'राम की शक्तिपूजा' पर आधारित थी और दूसरी तमिल की शिव कथा 'तिरूविहेयाडल पुराणम्' पर आधारित थी। 'राम की शक्ति पूजा' के मंचन के अवसर पर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'गिरिजा कुमार माथुर' मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे और लेखक के इस कार्य से प्रभावित होकर उनकी प्रशंसा भी की थी।

लेखक, कवि, अभिनेता, समीक्षक होने के साथ–साथ कुशल कोशकार भी हैं। 1981 ई0 में प्रकाशित 'भारतीय साहित्य कोश' के निर्माण के लिए 'डॉ0 नगेन्द्र' ने भारत की विभिन्न भाषाओं के विद्वान तथा साहित्यकारों का चुनाव किया था, जिसमें मलयालम साहित्य से संबंधित प्रविष्टियों को तैयार करने की जिम्मेदारी लेखक को दी गई थी और उन्होंने इस दायित्व को पूरी निष्ठा के साथ निभाया। उनके द्वारा समय पर किये गए कार्य से 'डॉ0 नगेन्द्र' अत्यधिक प्रभावित हुए थे। आगे चलकर 'डॉ0 नगेन्द्र' के साथ

उन्होंने कई अनुवाद कार्य भी किये हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक शोध पत्र 'मातृभूमि' नामक साप्ताहिक पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने केरल के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और भूतपूर्व मंत्री 'पी0 टी0 भास्कर पणिक्कर' के आग्रह पर मलयालम में एक लेख और द्रविड़ भाषाओं के विश्वविज्ञान कोश के लिए वैज्ञानिक शब्दावली पर भी लेख लिखा है।

लेखक की साहित्यिक प्रतिभा एवं तीव्र विश्लेषण बुद्धि का आकलन हिन्दी भाषा में लिखी गई उनकी आत्मकथा इतिशेष से लगाया जा सकता है जिसमें लेखक ने तत्कालीन समाज का वर्णन करते हुए अपने जीवन को समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नीलकंठन नंपूतिरी का प्रारंभिक जीवन अत्यन्त संघर्षपूर्ण रहा। अपनी प्रारंभिक शिक्षा–दीक्षा से लेकर नौकरी से सेवानिवृत्त होने तक उन्हें कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा, किन्तु उन्होंने सभी का सामना डटकर किया। साथ ही अपने जीवन–संघर्षों के माध्यम से पाठकों का मार्गदर्शन भी करते हैं।

2.2 इतिशेष की सामाजिक बुनावट

''चातुर्वर्ण व्यवस्था मानव समाज के लिए असाध्य ही नहीं हानिकर भी है। इसका अर्थ है, कुछ इने गिने मनुष्यों के भोगैश्वर्य के लिए बहुजन समाज को कंगाल बना दिया जाए एवं थोड़े से लोगों के प्रभुत्व के लिए बहुत से लोगों को सर्वहारा बना दिया जाए। थोड़े से लोगों को प्रवंचित, निःसत्व और अंधकारमय बना दिया जाए। भारत में यही हुआ।''[12]

यही चातुर्वर्ण व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन का मूल आधार रही है। सामाजिक विभाजन के रूप में यह व्यवस्था उत्तरवैदिक युग से लेकर अद्यतन निरंतर प्रवाहमान है। चतुर्थ शताब्दी ई0 से लेकर वर्तमान काल में भी चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के आधार पर समाज के विभाजन की परंपरा मिलती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियों अर्थात् गुणों को ध्यान में रखकर ही समाज में उसका स्थान और कार्य निश्चित किया गया। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति और समाज दोनों को समान रूप से महत्व दिया गया है।[13]

प्रारंभिक अवस्था में समाज में सभी वर्णों को समान रूप से समता का अधिकार प्राप्त था और इसमें ऊँच–नीच, छुआछूत की भावना का कोई स्थान नहीं था। महाभारत में कहा गया है कि प्रारंभ में ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न सभी लोग ब्राह्मण कहलाये। किन्तु विभिन्न प्रकार के कर्मों को अपनाने के कारण वे विभिन्न वर्णों के नाम से संबोधित किए गए।[14] विभिन्न वर्णकर्मों और अंतर्वर्णी विवाहों के कारण समाज में अनेक जातियों का प्रार्दुभाव हुआ। इस प्रकार प्रारंभ में यह माना जाता था कि ऋग्वैदिक समाज एक सरल समाज था जिसमें लोगों की स्थिति जन्म से प्राप्त सम्पत्ति या हैसियत पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत गुणों और कौशलों पर निर्भर थी लेकिन जो कुछ उपलब्धि और अनुभव से प्राप्त हुआ था वह ऋग्वैदिक काल के अंत तक उत्तराधिकार तथा मिथकीय/कर्मकाण्डी विचारों पर आधारित हो गया।[15] 'इतिशेष' के लेखक 'नीलकंठन नंपूतिरी' ने भी इस मत

का समर्थन करते हुए अपनी आत्मकथा में कहा है कि जन्मजात ब्राह्मणत्व की संकल्पना बाद की सोच है। चातुर्य वर्ण की मूल व्यवस्था में कोई भी वर्ण स्वयं चुन सकता था।[16]

वर्तमान समय में यह व्यवस्था एक गंभीर सामाजिक समस्या का रूप धारण कर चुकी है। जाति प्रथा एवं छुआछूत के कारण समाज में अनेक प्रकार की असमानता तथा विभेद की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इन सबके परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे अंतिम वर्ण अर्थात् दलित सबसे ज्यादा शोषित है। दलितों द्वारा वर्ण व्यवस्था का विरोध आज हर जगह दिखाई दे रहा है। साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। वर्तमान समय में दलित लेखकों के द्वारा लिखी गई ऐसी अनेक आत्मकथाएँ, उपन्यास तथा कहानियाँ प्रकाश में आई हैं जो दलित जीवन के तमाम कष्टों, यातनाओं एवं प्रताड़नाओं के इतिहास को बयान करती हैं।

आज जब अनेक दलित आत्मकथाएँ हमारे सामने आ रही हैं, वहीं नीलकंठन नंपूतिरी की आत्मकथा 'इतिशेष' एक दक्षिण भारतीय ब्राह्मण द्वारा लिखी गई ऐसी आत्मकथा है जिसमें ब्राह्मण समाज की विशिष्टताओं एवं कमियों दोनों का उल्लेख किया गया है। उन्होंने जाति प्रथा की बुराईयों को बिना किसी लागलपेट के हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। मस्तराम कपूर ने अपने लेख 'जाति दंश के आयाम' में 'इतिशेष' की विशेषता बताते हुए कहा है कि–

''नीलकंठन नंपूतिरी की आत्मकथा इतिशेष दलित आत्मकथाओं से इस मामले में अलग है कि यह ब्राह्मणवाद और वर्णव्यवस्था की रूढ़ियों का विरोध करते हुए भी किसी पर नकारात्मक प्रभाव नहीं छोड़ती।.....ब्राह्मणत्व का झूठा दंभ, जो उन्हें बड़ी अवस्था तक औपचारिक शिक्षा से वंचित रखता है और जिसका दंश उन्हें अपने पूरे आजीविका काल में उपेक्षाओं या पदावनतियों के रूप में सहना पड़ता है, उस पर विजय प्राप्त करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य लगता है।''[17]

नीलकंठन यद्यपि एक दक्षिण भारतीय उच्च ब्राह्मण हैं किन्तु ब्राह्मण समाज में व्याप्त बुराईयों तथा अंधविश्वासों को तटस्थ होकर पाठकों के सामने रखा है। मूल रूप से सवर्ण तथा दलित के आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनैतिक अधिकारों में बहुत ज्यादा अंतर होता है। सवर्णों की अपेक्षा दलितों को न तो औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होता है और न ही पूजा करने और मंदिर में प्रवेश करने का। यहाँ तक कि उनकी बस्तियाँ भी सवर्णों के मोहल्लों से दूर होती हैं और उनके मुहल्लों में उन्हें आने की ईज़ाजत भी नहीं होती है। यह भिन्नता आज भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है। 'बाबा साहेब अम्बेडकर' ने अपने प्रयासों के द्वारा दलितों की स्थिति में सुधार के लिए अनेक आन्दोलन चलाए। उन्होंने सीधी कार्यवाही के द्वारा 1927 ई0 में सार्वजनिक तालाब से पानी के अधिकार को लेकर 'महाड़' में लड़ाई लड़ी और 20 दिसंबर 1927 ई0 को 'महाड़ सम्मेलन' में 'मनुस्मृति' जलाकर व 2 मार्च 1930 ई0 में 'नासिक' के 'कालाराम राम मंदिर' में प्रवेश के अधिकार की लड़ाई लड़कर दलितों को अन्याय एवं शोषण के खिलाफ संघर्ष करने के लिए प्ररित किया।[18] इसके अतिरिक्त दलितों को हिन्दुओं से पृथक मानते हुए उनके राजनैतिक अधिकारों की मांग की। 'बाबा साहेब अम्बेडकर' के साथ–साथ दलित लेखकों की आत्मकथाओं जैसे–'मोहन दास नैमिशराय' की 'अपने–अपने पिंजरे', 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की 'जूठन', 'कौशल्या वैसंत्री' की 'दोहरा अभिशाप', 'सूरजपाल चौहान' की 'तिरस्कृत' तथा 'संतप्त', 'श्यौराज सिंह बेचैन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', 'डॉ0 तुलसीराम' की 'मुर्दहिया', 'सुशीला टाकभौरे' की 'शिकंजे का दर्द' एवं विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं 'सारिका', 'हंस', 'कथादेश' आदि ने दलित चेतना को जागृत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

'बाबा साहेब अम्बेडकर' के द्वारा चलाए गए आन्दोलनों एवं शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप आज दलित अपने अधिकारों को लेकर जागरूक हो गए हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हाल ही में 'मदुरै' जिले के 'उत्थपुरम गांव' में दलितों द्वारा मंदिर प्रवेश के लिए लड़ी गई लंबी लड़ाई के माध्यम से दिया जा सकता है। संविधान लागू होने के बासठ वर्ष बाद भी मदुरै के इस मंदिर में दलितों का प्रवेश वर्जित था। कई साल तक

चले संघर्ष के पश्चात् पुलिस बल की मौजूदगी में 'उत्थपुरम' के दलितों ने मंदिर में प्रवेश किया। विडम्बना यह है कि जिस समय यह घटना घटित हो रही थी, उस समय वहाँ आस–पास की गलियों में उच्च जाति की महिलाएँ जोर–जोर से रोकर विरोध जता रही थी।

इसके अतिरिक्त एक और घटना जो 'उत्थपुरम' गांव में घटित हुई थी, वर्णव्यवस्था की बुराईयों और जाति प्रथा के दंश को सामने लाती है। इस गांव में उच्च जातियों की बस्तियों के छोर पर एक 'अछूत दीवार' खड़ी कर दी गई थी, ताकि दलितों के घरों को बाकी घरों से अलग किया जा सके। वर्ष 2008 में 'तमिलनाडु छुआछूत उन्मूलन मोर्चा' और 'मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी' के नेतृत्व में लम्बे संघर्ष के बाद यह दीवार गिराई जा सकी। वैश्वीकरण के दौर में जहाँ माल संस्कृति का चलन व्यापक रूप से बढ़ रहा है और नई शिक्षा नीति व आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप विभिन्न तकनीकों को विकसित करके आज जब देश सतत विकास की ओर बढ़ रहा है। ऐसे समय में ये घटनाएँ हमारे उस मिथक को तोड़ती सी प्रतीत होती हैं कि समाज में परिवर्तन हो चुका है और वर्णव्यवस्था एवं छुआछूत की प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त हो चुकी हैं। जबकि स्थिति यह है कि आज भी दलित अपने मूल अधिकारों को प्राप्त करने के लिए समाज से लगातार संघर्ष कर रहा है और देश के अधिकांश कोनों में शिक्षा का प्रसार होना अभी भी शेष है।[19] नीलकंठन अपनी आत्मकथा में दलितों की दयनीय दशा का चित्रण करते हुए पूरी जाति व्यवस्था पर प्रश्न उठाते हैं। उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण उन्हें बहुत समय तक स्कूली शिक्षा से वंचित रहना पड़ता है क्योंकि नंपूतिरी जाति के लोगों के लिए स्कूल–कॉलेज की औपचारिक और अंग्रेजी भाषा वाली शिक्षा निषिद्ध थी। इसके साथ–साथ नंपूतिरियों का यह भी मानना था कि–

'' नीच जाति के लोगों के साथ एक ही बेंच पर बैठकर शिक्षा पाने के लिए बच्चों को नहीं भेजा जा सकता था।''[20]

इसके अतिरिक्त प्रारंभ में केरल की अधिकांश भू सम्पत्ति पर नंपूतिरियों का ही अधिकार था। वे राज्य भर की भू–सम्पत्ति के जमींदार या जन्मीं थे। जन्मीं कभी भी खेती नहीं करते थे। भू–नियम के अनुसार काश्तकारों से उन्हें लगान के रूप में नगदी तथा धान, नारियल, अन्न आदि लगान के रूप में प्राप्त करते थे। इसके अतिरिक्त उनके पास मंदिरों की भी विशाल भू–सम्पत्ति थी जिनका नियंत्रण नंपूतिरियों के हाथ में था। नंपूतिरी लोग पुरोहित कार्य के अलावा कोई नौकरी या अन्य धंधा करके धन नहीं कमाते थे। ऐसा धनोपार्जन प्रतिष्ठा के खिलाफ था।

बाद में नये भू नियमों और काश्तकारी के नियमों के अनुसार कृषि भूमि का स्वामित्व पट्टेदारों को मिल गया जिसके कारण नंपूतिरी वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। अतः नंपूतिरियों ने धनोपार्जन के लिए अन्य साधनों को अपनाना प्रारंभ किया। इस प्रकार कई वर्षों के पश्चात् परिस्थितियों के बदलने एवं राजराज वर्मा के उपालम्भ से बारह वर्ष की आयु में उन्हें स्कूल में प्रवेश दिलाया गया। स्कूल में प्रवेश लेने के पश्चात् भी उन्हें अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। स्कूल में उन्हें अपने से कम उम्र के बच्चों के साथ बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। उन्हें वहाँ अन्य जाति के बच्चों के साथ बैठकर खाना खाने की भी अनुमति नहीं मिलती है। घर से स्कूल बहुत दूर होने के कारण वे दोपहर में वहाँ भी आ नहीं सकते थे। इस कारण पूरे दिन उन्हें भूखा रहना पड़ता था।

जाति प्रथा का ही यह दुष्परिणाम है कि जहाँ एक ओर उच्च कुल में उत्पन्न होने पर भी लेखक को बारह वर्षों तक स्कूली शिक्षा से दूर रहना पड़ता है ताकि वह दलितों के संपर्क में न आए, तो दूसरी ओर दलितों को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से ही वंचित रखा जाता है। इस कारण लेखक जाति प्रथा पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि–

'' क्या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त हो जाता है?''[21]

वे आगे कहते हैं कि ब्राह्मणों को भूदेव अर्थात् पृथ्वी पर निवास करने वाला सशरीर देवता माना जाता है। इसकी उत्पत्ति विराट पुरूष के मुख से मानी जाती है, किन्तु उसी सशरीर देवता के कुल में पैदा होने के कारण भी उन्हें किसी भी प्रकार का विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होता है। लेखक के इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि यह सत्य है कि उच्च कुल में जन्म लेने पर भी लेखक को अपने शैक्षिक तथा सामाजिक स्तर पर अनेक संघर्ष करने पड़ते हैं, लेकिन उनके पास वह सामाजिक अधिकार हैं जो दलितों के पास नहीं हैं। अधिक उम्र में स्कूल में प्रवेश लेने पर भी उनकी आयु तथा जाति को लेकर ऐसा दुर्व्यवहार नहीं होता है, जैसा दलितों के साथ किया जाता है। दलितों के बच्चों को स्कूल में पढ़ाने के बजाय उनसे झाड़ू लगवाई जाती है, बिना किसी वजह के मारा जाता है और जातिसूचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

जैसा कि दलित लेखक 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' ने अपनी आत्मकथा 'जूठन' में स्वयं के साथ स्कूल में होने वाले दुर्व्यवहार का वर्णन करते हुए कहा है कि–

''एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, ''क्या नाम है बे तेरा?''
''ओमप्रकाश'', ''मैंने डरते डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया।''
''चूहड़े का है?'' हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।
''जी''
''ठीक है.....वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा.....फटाफट लग जा काम पे।''

जब लेखक 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' के पिता इसका विरोध करते हैं तब उन्हें यह उत्तर मिलता है–

हेडमास्टर ने तेज आवाज में कहा था, ''ले जा इसे यहाँ से.....चूहड़ा होके पढ़ाने चला है.....जा चला जा.....नहीं तो हाड़ गोड़ तुड़वा दूँगा।''[22]

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों स्थितियाँ एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। 'इतिशेष' के लेखक को यहाँ पर उस परिस्थिति तथा मानसिकता से होकर नहीं गुजरना पड़ता है जहाँ से 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' या अन्य दलितों को गुजरना पड़ा। आज भी वे ऐसी परिस्थितियों से लगातार संघर्ष कर रहे हैं। यह बात प्रशंसा के योग्य है कि लेखक ने जाति प्रथा की बुराईयों को समझा और तटस्थ होकर उसका वर्णन भी किया। परन्तु वर्णन करने से ज्यादा जरूरी उस व्यवस्था का विरोध करना और उसको जड़ से समाप्त करना है।

लेखक के जन्म के समय केरल में वैसी सामंती व्यवस्था विद्यमान थी जैसी देश के अन्य भागों में थी। लेखक को बचपन से ही यह सिखाया गया था कि उन्हें निम्न जाति के लोगों से एक निश्चित दूरी बनाकर रखनी चाहिए और अगर वो लोग समीप आएँ तो घर के पोखर में डुबकी लगाकर स्नान करके शरीर को शुद्ध करना चाहिए।[23] धीरे–धीरे आगे चलकर यही जाति व्यवस्था इतनी जटिल हो गई थी कि 'स्वामी विवेकानंद' को केरल को 'जातियों का पागलखाना' कहना पड़ा। केरल में वर्णों का विभाजन कुछ अलग ढ़ंग से देखने को मिलता है। उत्तर भारत में जहाँ चतुर्वर्ण के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आते हैं जबकि केरल में ब्राह्मण तथा शूद्र दो वर्ण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त राज परिवारों तथा उनके निकट संबंधियों को क्षत्रिय की श्रेणी में स्थान दिया गया है, किन्तु ब्राह्मण तथा शूद्र दो ही वर्ण प्रमुख हैं और शूद्र को दो भागों में बाँटा गया है–पहला 'सवर्ण' तथा दूसरा 'अवर्ण'। मलयालम में उन्हें 'तींटल' नाम से पुकारा जाता है। यहाँ भी दलितों पर उसी प्रकार के प्रतिबंध थे जैसे भारत के अन्य भागों में। उन्हें मंदिर में प्रवेश करने तथा मुख्य सड़क पर चलने का अधिकार नहीं था। जैसा कि लेखक स्वयं कहा है कि–

'' बीसवीं सदी के प्रथम पाद के अंत तक स्थिति यह थी कि अवर्ण शूद्र जाति के लोगों को राजमार्ग पर चलने का अधिकार नहीं था। उनके चलने की कुछ निश्चित गलियाँ होती थीं या फिर वे खेतों से होकर जाते थे। जब भी उनको मुख्य सड़क पार करना होता था तो वे एक विशेष प्रकार की आवाज़ निकालते थे ताकि ब्राह्मण उनसे बचे रहें।''[24]

कुछ समय के पश्चात् 1924 ई0 में 'केरल' में 'वैकम सत्याग्रह' आरंभ हुआ जिसमें दलित और पिछड़े वर्ण के साथ–साथ केरल के उच्च जातियों के नेताओं ने इसका नेतृत्व किया। वैकम के मंदिर के बाहरी प्राचीर से सौ मी0 की दूरी पर मुख्य सड़क पर पत्थर का एक फलक लगा हुआ था, जिसके कारण 'तींटल जाति' के लोगों अर्थात् 'अस्पृश्यों' को इसके आगे आने का अधिकार नहीं था। 'तिरूवितांकूर राज्य' के अवर्ण तथा सवर्ण समूहों के संगठन ने इस सीमा का उल्लंघन करके गिरफ्तारी देने का निर्णय किया। इसके साथ मंदिर के गोपुर द्वार से मुख्य राजमार्ग पर चलने के अधिकार को लेकर सत्याग्रह शुरू हुआ। तमिलनाडु में 'रामास्वामी नायकर' और 'विनोबा भावे' ने आकर इस आन्दोलन में भाग लिया, किन्तु नंपूतिरियों ने इस सत्याग्रह का घोर विरोध करते हुए इसे समाप्त के लिए सरकार पर दबाव डाला। अंततः सत्याग्रहियों की मांग पर केरल के महाराजा ने नवबंर 1936 ई0 में सरकारी नियंत्रण वाले सभी मंदिरों में प्रत्येक हिन्दू को प्रवेशाधिकार प्रदान करने की घोषणा की। इस घटना का लेखक के पिता पर कैसा प्रभाव पड़ा इसका वर्णन करते हुए लेखक बताते हैं कि–

'' अछूतों के लिए मंदिर प्रवेश की घोषणा पिता जी के लिए कुछ आघात जैसा था। पुरानी परंपराओं को तोड़ना उनके लिए कठिन था और पिता जी इस स्थिति से समझौता नहीं कर पाए। इसके विरोध में अपने ही अहाते में एक शिव मंदिर का निर्माण किया और अंत तक वे वैकम के शिव मंदिर में नहीं गए।''[25]

यद्यपि 1936 ई0 में केरल में सभी वर्णों को मंदिर प्रवेश का अधिकार तो मिल गया था किन्तु मंदिर में प्रवेश का अधिकार भर मिल जाने से क्या दलितों के प्रति लोगों की मानसिकता बदल गई है? 'बाबा साहेब अम्बेडकर' का उद्देश्य केवल मंदिर में प्रवेश करने के अधिकार तक ही सीमित नहीं था बल्कि वह दलितों के मंदिर में प्रवेश के अधिकार के माध्यम से सवर्णों की ब्राह्मणवादी मानसिकता पर प्रहार करना चाहते थे। आज भी देश के अधिकांश जगहों पर दलितों को सवर्णों के द्वारा बनाए गए नियमों का पालन करना पड़ता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'स्टालिन' की डाक्यूमेन्ट्री फिल्म 'इंडिया अनटच्ड' है, जिसमें लेखक ने भारत के अलग–अलग प्रदेशों में दलितों की स्थिति एवं उनके लिए बनाए गए नियमों को सामने लाया गया है। इसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार आज भी दक्षिण में दलित अगर सवर्णों के इलाके से गुजरते हैं तो उन्हें अपनी चप्पल उतारनी पड़ती है और साथ ही साथ साइकिल से भी उतरना पड़ता है ताकि वे अशुद्ध न हो जाएँ।[26]

इस प्रकार लेखक के जन्म से पहले ही दलितों द्वारा अपने अधिकारों की माँग को लेकर अनेक आन्दोलन चलाए जा रहे थे, जिसका लेखक ने पूरी निर्भीकता के साथ वर्णन किया है। 'इतिशेष' में लेखक 'महात्मा गांधी' के विचारों से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है कि–

'' हिन्दी की पहली पाठ्य पुस्तक से ही मैं समझने लगा था कि गांधी जी कितने महान हैं और छुआछूत कितना बड़ा अन्याय है।''[27]

लेखक ने अपनी आत्मकथा में सिर्फ गांधी जी द्वारा चलाए गए 'हरिजन आंदोलन' का उल्लेख किया है जबकि उस समय महाराष्ट्र में 'बाबा साहेब अम्बेडकर', 'ज्योतिबा फुले' द्वारा जाति व्यवस्था को समाप्त करने एवं दलितों के उद्धार के लिए अनेक आंदोलन चलाए जा रहे थे। लेखक ने उनका कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। इस कारण नीलकंठन की आत्मकथा में दलित आत्मकथाओं में परिलक्षित होने वाली चेतना

नहीं मिलती है क्योंकि यह वर्ण व्यवस्था का विरोध करने के बजाय केवल उस पर प्रश्न खड़ा करती है। जबकि दलित आत्मकथाओं में पूरी व्यवस्था के प्रति विद्रोह एवं नकार का भाव विद्यमान है। दलित लेखकों की रचनाएँ 'बाबा साहेब अम्बेडकर' एवं 'ज्योतिबा फुले' की विचारधारा का अनुसरण करती हैं क्योंकि दलितों को उनकी अस्मिता का अहसास सही मायने में 'बाबा साहेब अम्बेडकर' ने कराया था। उन्होंने दलितों के अन्दर आत्मसम्मान की भावना जागृत करते हुए उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वे किसी से कम नहीं हैं। 'बाबा साहेब अम्बेडकर' ने हिन्दू समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था को हमारे देश में सामाजिक सौहार्द का सबसे बड़ा शत्रु माना है। इसलिए उन्होंने जाति प्रथा एवं छुआछूत की भावना से रहित ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना की है जो स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित हो। इसके विपरीत 'महात्मा गांधी' ने वर्ण व्यवस्था को हिन्दू समाज का आवश्यक अंग माना है। उनके अनुसार–

''वर्णव्यवस्था का नियम सिखाता है कि पैतृक धंधा अपनाकर हम रोजी–रोटी कमा सकते हैं। यह हमारे अधिकार को ही नहीं, बल्कि कर्तव्य को परिभाषित करता है। वर्णव्यवस्था अवश्य ही व्यवसाय के संदर्भ में बनी है, जो केवल मानवता के कल्याण के लिए है और अन्य किसी के लिए नहीं। इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यवसाय न तो अत्यधिक नीचा है, न ही अत्यधिक ऊँचा।''[28]

'महात्मा गांधी' यह चाहते थे कि हिन्दू धर्म की कमियों को दूर कर उसके आदर्श स्वरूप की पुनः प्रतिष्ठा की जाए। 'महात्मा गांधी' ने जिस वर्णव्यवस्था को व्यवसाय के संदर्भ में देखा है, उसी वर्णव्यवस्था को आधार बनाकर न जाने कितने अछूतों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि लोग अधिक से अधिक जाति प्रथा की बुराईयों को समझें और इसका विरोध करें, नहीं तो आगे चलकर स्थिति बहुत खराब हो जाएगी। अपने माता के गर्भ में रहते हुए जब कोई यह नहीं जानता है कि वह किस जाति का है, वह सवर्ण है या अवर्ण। सभी मनुष्य के जन्म की प्रक्रिया जब एक ही समान है तो जन्म के आधार पर जाति का निर्धारण कहाँ तक

सही माना जा सकता है?[29] 'मस्तराम कपूर' भी अपने लेख 'जाति दंश के आयाम' में इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि–

''यह पुस्तक हमें डॉ0 लोहिया की इस उक्ति की याद दिलाती है कि जाति की चक्की सबको पीस डालती है, सबका क्षय करती है। इससे न अवर्ण बचता है न सवर्ण।''[30]

दलितों के समान स्त्रियों की दशा भी हमारे समाज में अच्छी नहीं रही है। उन्हें भी अपने अधिकारों को लेकर अनेक लड़ाईयाँ लड़नी पड़ी हैं। नीलकंठन ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के चित्रण में दलितों के साथ–साथ स्त्रियों की दशा का भी वर्णन किया है। नंपूतिरी समाज में उन पर होने वाले अत्याचारों के विषय में कहा है कि–

'' लेकिन इस व्यवस्था में नंपूतिरी घरों की असहाय महिलाओं के प्रति जो अत्याचार चल रहा था उसने मेरे मन में अमिट छाप छोड़ी है क्योंकि ये मेरी माँ–बहन थीं और इन पर की गई यंत्रणाओं को देखकर मैं स्वयं को इन अत्याचारों का शिकार समझता था।''[31]

लेखक के अनुसार केरल में मातृसत्तात्मक दायक्रम प्रचलित था। इसका अर्थ है कि संपत्ति माता से संतान को हस्तांतरित होती थी, न कि पिता से। मातृसत्तात्मक उत्तराधिकार की व्यवस्था केवल ब्राह्मणेतर जातियों पर लागू होती थी। नंपूतिरी ब्राह्मणों में केवल ज्येष्ठ भ्राता ही नंपूतिरी कन्याओं से विवाह करता था और उससे उत्पन्न संतान अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था। उन्होंने लिखा है कि–

''अन्य कनिष्ठ भाईयों को राजपरिवार, सामंतों और प्रतिष्ठित नायर गृहों से अपनी जीवनसंगिनी चुनते थे। इस चुनाव को विवाह के स्थान पर 'संबंधम्' कहा जाता था। विवाह केवल ब्राह्मण गृहों में होता था। 'संबंधम्' से जितनी भी संतानें होती थीं वे मातृसत्तात्मक दायक्रम के मानने वाले होते थे। पिता की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता था।''[32]

उत्तराधिकार संबंधी मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण स्त्रियों को अनेक कष्ट उठाने पड़े। नंपूतिरी परिवार का ज्येष्ठ भ्राता ही नंपूतिरी कन्या से विवाह कर सकता था जिसके फलस्वरूप उन्हें एक से अधिक विवाह करने पड़ते थे। इस कारण कम उम्र की बालिका का विवाह उससे अधिक उम्र के पुरूष से होता था। स्वयं लेखक की माँ अपने विवाह के समय ग्यारह वर्ष से कम उम्र की थी जबकि उनके पिता की आयु तीस वर्ष थी। संबंधम् प्रथा के कारण एक पुरूष अनेक स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित कर सकता था और अपनी इच्छानुसार कभी भी इस संबंध को तोड़ सकता था, जिससे औरतों व उससे से उत्पन्न बच्चों के पालन पोषण में समस्या उत्पन्न हो जाती थी। इस स्थिति की तरफ लेखक स्वयं संकेत करता है–

'' पुरूष नारी को केवल एक वस्त्र दे तो संबंधम् की रस्म पूरी हो जाती थी। केवल सहशयन के लिए किया गया यह करार किसी भी समय तोड़ा जा सकता है।''[33]

संबंधम् जैसी कुप्रथायें जहाँ पुरूषों को एक तरफ विवाह करने की खुली छूट प्रदान करती थी वहीं स्त्रियों के लिए अनेक नियम कानून बनाए गए थे। नंपूतिरी स्त्रियाँ अपनी मर्जी से अपने घर की चहारदीवारी से बाहर नहीं निकल सकती थीं और किसी कारणवश बाहर आती तो उन्हें ताड़ के बड़े छाते की आड़ में छिपकर नौकरानियों से घिरकर चलना होता था, जिससे कोई अन्य पुरूष उन्हें देख न सके। साथ ही अपने घर के अन्य पुरूष सदस्यों जैसे देवर आदि के सामने आने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। घर पर स्त्रियों का महत्व सिर्फ इसलिए था कि वे संतान परंपरा को कायम रख सकें। जैसा कि लेखक ने बताया है कि–

'' अपनी संतान परंपरा को कायम रखने, खाना तैयार करने और पूजा पाठ में सहायता देने के लिए ही इन महिलाओं की आवश्यकता पड़ती थी। सौतेले झगड़े और सास बहू के कलह में भी इनको पीड़ा सहन करनी पड़ती थी।''[34]

स्त्रियों को घर में न तो अपने अंतर्जनों से स्नेह प्राप्त होता था और न अपने पति से। उनके पति अन्य स्त्रियों के आकर्षण क्षेत्र में लिप्त रहते थे। उनके सुख–दुःख से उनका कोई संबंध नहीं होता था। स्त्रियों के चरित्र भंग हो जाने पर उन्हें दंडित करने की प्रथा प्रचलित थी। 'मस्तराम कपूर' ने अपने लेख 'जाति दंश के आयाम' में 'स्मार्त विचार' में किये जाने वाले न्याय की तुलना वर्तमान समय में 'हरियाणा' तथा 'पंजाब' की 'खाप पंचायत' में किये जाने वाले न्याय से की है। इस प्रथा के अनुसार यदि किसी स्त्री के चरित्र भंग होने का प्रमाण मिल जाता था, तब उसे अपराधी घोषित कर उसका छाता तोड़ दिया जाता था, साथ ही मृतकों की श्रेणी में रखकर उसका पिंडदान कर दिया जाता था।

नीलकंठन ने यह भी कहा है कि चरित्र भंग होने पर जहाँ स्त्रियों के लिए इस प्रकार के दंड का विधान था, वहीं पुरूषों को यौन अपराधों में तभी दोषी माना जाता था, जब उनका संबंध ब्राह्मण महिला के साथ हुआ हो, जबकि स्त्री के लिए इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी।

केरल में प्रचलित यह 'स्मार्त विचार' की प्रथा जहाँ एक ओर स्त्री तथा पुरूष के बीच की असमानताओं को उजागर करता है तो वहीं दूसरी ओर उच्च कुल एवं निम्न कुल में उत्पन्न स्त्रियों के बीच विभाजन रेखा खींचती है। यहाँ भी जाति प्रथा के द्वारा किया जाने वाला विभेद दिखलाई पड़ता है, जिसमें उच्च कुल की स्त्री के विरूद्ध अपराध का दोषी सिद्ध किये जाने पर पुरूष के खिलाफ कड़े कदम उठाये जाते हैं और उसे जाति बहिष्कृत कर दिया जाता है, किन्तु निम्न वर्ण की स्त्री के साथ ऐसा करने पर कोई दंड नहीं दिया जाता है। आखिर यह कैसा न्याय है?

'स्मार्त विचार' में दोषी सिद्ध किये गये व्यक्ति के साथ–साथ उसकी वैध संतानों के साथ भी अन्याय किया जाता था। उनके बच्चों को नंपूतिरी जाति से बहिष्कृत कर

'चक्कियार जाति' में शामिल कर दिया जाता था। 'चक्कियार जाति' के विषय में लेखक बताते हैं कि–

'' यद्यपि चक्कियार भी सवर्ण जाति के होते हैं तो भी ये नंपूतिरियों से कई सीढ़ी नीचे हैं और उस जाति में पहुँचना नंपूतिरी के लिए पतन ही है।''[35]

यहाँ स्पष्ट है कि दक्षिण भारत हो या उत्तर भारत या देश का कोई भी भाग सभी जगह स्त्रियों की दशा एक समान है। 'पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने भी अपनी आत्मकथा में उनके घर की स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन करते हुए कहा है कि–

'' मुहल्ले के आधे दर्जन मनचले ब्राह्मण युवक उस वेश्या से मिलने मेरे यहाँ आ जमते थे। मकान के अन्दर के अन्दर की ब्राह्मणियाँ मेरी माँ और भाभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ा हो गई थीं। भाभी तो रोने भी लगी थी। पर ये कुलीन औरतें मुखर विरोध करने में असमर्थ थी, इसलिए कि मेरे उन्मत्त भाई साहब एक ही लाठी से दोनों को हाँकने में कोई ग्लानि या हानि नहीं समझते थे।''[36]

'नीलकंठन नंपूतिरी' एवं 'पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' दोनों सवर्ण लेखकों की आत्मकथा के माध्यम से स्वयं ही यह अंदाजा लगा सकते हैं कि उच्च वर्ण में स्त्रियों की क्या दशा है? जो वर्ण स्वयं को वेदों का ज्ञाता कहता है उसमें अगर स्त्रियों के साथ इस प्रकार के अत्याचार किये जाते हैं तो निम्न वर्ण की बात ही क्या। आगे चलकर केरल में प्रचलित विवाह संबंधी इन कुरीतियों के विरूद्ध विद्रोह की लपटें उठने लगी और 'नंपूतिरी योगक्षेम सभा' की स्थापना की गई। इस सभा की बागडोर महान समाज सुधारक और साहित्यकार 'वी0 टी0 राम भट्टतिरिप्पाड' ने संभाली। इस सभा के माध्यम से नंपूतिरी ब्राह्मण के सभी भाईयों का अपनी जाति की स्त्री से विवाह कराने, घरेलू सम्पत्ति में सभी को बराबर हिस्सा दिलाने, महिलाओं में पर्दा प्रथा समाप्त करने और विधवा विवाह जैसे महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी कदम उठाये गए। इसमें महिलाओं ने भी भाग

लिया। जिसके फलस्वरूप अब वहाँ 'स्मार्त विचार' जैसी प्रथा समाप्त हो चुकी है। यद्यपि 'नंपूतिरी योगक्षेम सभा' के द्वारा संबंधम् जैसी प्रथा समाप्त हो गई है और एक पुरूष का विवाह केवल एक ही स्त्री के साथ होता है लेकिन क्या संबंधम् जैसी प्रथा के समाप्त हो जाने से स्त्रियों की दशा सुधर गई है? क्या उन्हें स्वतंत्र रूप से अपनी इच्छानुसार वर चुनने की ईज़ाजत मिल गई है? क्या वहाँ अंतर्जातीय विवाह बिना किसी रूकावट के होने प्रारंभ हो गए हैं? अगर नहीं तो स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता कहाँ प्राप्त हुई है? ऐसे अनेक प्रश्न है जो उभरकर सामने आते हैं। अगर संबंधम् प्रथा को समाप्त करके अंतर्जातीय विवाह को मान्यता दे दी गई होती तो यह स्त्रियों की दशा को सुधारने के साथ–साथ वर्ण व्यवस्था को कमज़ोर करने में मुख्य भूमिका अदा करता। 'बाबा साहेब अम्बेडकर' ने भी रोटी–बेटी के संबंध पर बात करते हुए अंतर्जातीय विवाह पर बल दिया है। उन्होंने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि–

'' मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने से ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति–व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना, अर्थात् पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी।''[37]

इसके साथ वह यह भी कहते हैं कि अंतर्जातीय विवाह तब तक सफल नहीं होगें जब तक प्रत्येक स्त्री तथा पुरूष को शास्त्रसम्मत मान्यताओं से मुक्त नहीं किया जायेगा। जैसा कि–

''रोटी बेटी के संबंध के लिए आंदोलन करना और उनका आयोजन करना कृत्रिम साधनों से किए जाने वाले, बलात् भोजन कराने के समान है। प्रत्येक पुरूष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन से मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिंड छुड़ाइए, फिर देखिए, वह आपके कहे बिना अपने आप अंतर्जातीय खान–पान तथा अंतर्जातीय विवाह का आयोजन करेगा/करेगी।''[38]

'बाबा साहेब अम्बेडकर' का अंतर्जातीय विवाह के संबंध में विचार उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि आज भी स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार अंतर्जातीय विवाह नहीं कर सकती हैं और कुछ अगर करने का साहस भी करती हैं तो 'ऑनर किलिंग' के नाम पर उनकी हत्या कर दी जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पंजाब की 'शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी' की पूर्व प्रधान 'बीबी जागीर कौर' हैं जिन्होंने अपनी गर्भस्थ बेटी 'हरप्रीत कौर' की इसलिए हत्या करवा दी क्योंकि उसने 'कमलजीत सिंह' नामक अन्य जाति के लड़के से विवाह कर लिया था।[39] आज के राजनीतिज्ञ, जिनके हाथ में हमारे देश का शासन प्रबंध हैं, अगर वो इन चीजों को स्वयं बढ़ावा देगें तो यह अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि वर्तमान समय में देश की परिस्थिति क्या है? हरियाणा की खाप पंचायतओं ने 'ऑनर किलिंग' को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। खाप पंचायतों के अनुसार लड़की के विवाह की उम्र पंद्रह वर्ष तथा लड़के की सत्रह वर्ष होनी चाहिए जिससे कम उम्र में प्रेम विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह को रोका जा सके। वह स्त्री जो अपने गर्भ से न जाने कितने राजा महाराजाओं, क्रान्तिकारी योद्धाओं को जन्म देती है और जो माँ, बहन, पत्नी की भूमिका में हर कदम पर हमारा साथ देती है, समाज में उसकी दशा आज भी शोचनीय है।[40] वर्तमान समय में देश में हजारों की संख्या में कन्या भ्रूण हत्या किया जाना यह दर्शाता है कि अभी भी देश की व्यवस्था एवं हमारे स्वयं के विचारों में परिवर्तन होना शेष है। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक न जाने कितनी 'हरप्रीत कौर' की 'ऑनर किलिंग' के नाम पर बलि दी जाती रहेगी। 'सीमोन दि बोउवार' ने अपनी पुस्तक में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार की व्यवस्था के परिवर्तन की बात है–

'' यद्यपि मानव–विकास–क्रम में आर्थिक अवस्था एक आधारभूत तत्त्व है, जो व्यक्ति का नियंता है, किन्तु इसके बावजूद नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि व्यवस्थाओं में भी परिवर्तन की पूरी जरूरत है जिनके बदले बिना नई स्त्री का आविर्भाव सम्भव नहीं होगा।''[41]

नीलकंठन ने अपनी आत्मकथा में जहाँ एक ओर जाति प्रथा की बुराईयों, विविध संस्कारों, स्त्रियों की दशा एवं आर्थिक दशा का वर्णन किया है वहीं दूसरी ओर नंपूतिरियों के विविध क्षेत्रों जैसे साहित्य, राजनीति, दर्शन आदि में योगदान का सम्यक् वर्णन भी किया है। 'अद्वैत दर्शन' को प्रचलित करने वाले 'शंकराचार्य' का जन्म नंपूतिरी जाति में ही हुआ था। 'आदि शंकराचार्य' के पश्चात् संस्कृत के कृष्ण भक्त कवियों में 'विल्वमंगल' का उच्च स्थान है और सूर आदि कवियों की रचनाओं में 'श्री कृष्णकर्णामृत' की स्पष्ट छाया है। अगले नंपूतिरी संस्कृत कवि 'वासुदेव भट्टतिरिप्पाड' है जिन्होंने 'युधिष्ठिर विजयम्' नामक काव्य लिखकर अखिल यश प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त महान वैयाकरण और विद्वान 'मेल्पुत्तूर नारायण भट्टतिरि' ने संस्कृत साहित्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। संस्कृत के साथ–साथ मलयालम भाषा में भी नंपूतिरियों ने अनेक रचनाएँ लिखी हैं। 'ओलप्पमण्णा', 'ओ0 एम0 अनुजन', 'विष्णु नारायण नंपूतिरी', 'एम0 एन0 पालूर', 'काट्टुमाटम नारायणन' आदि मलयालम भाषा के प्रमुख कवि हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्कृत और मलयालम साहित्य को समृद्ध बनाने में नंपूतिरियों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके ग्रंथ मलयालम की अमूल्य निधि हैं जिसमें केरल के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की झलक देखने को मिलती है। राजनीति के क्षेत्र में भी नंपूतिरियों ने अपनी खास जगह बनाई है। प्रमुख राजनीतिज्ञ में 'ई0 एम0 एस0 नंपूतिरिप्पाड' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने कांग्रेस में 'समाजवादी ग्रुप' की स्थापना की जो आगे चलकर 'कम्युनिस्ट पार्टी' के रूप में उभरकर सामने आई। इसके साथ ही वह केरल के पहले 'कम्युनिस्ट मुख्यमंत्री' भी बने। इस तरह ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ नंपूतिरियों ने अपनी पहचान न बनाई हो। इसलिए नीलकंठन जी यह मानते हैं कि अनेक अवगुणों के होते हुए भी नंपूतिरियों में अनेक गुणों का समावेश है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि नीलकंठन एक सहृदय तथा विनम्र व्यक्ति हैं। नीलकंठन ने स्वयं उन दुखों, कठिनाईयों, समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं का अनुभव किया जो व्यक्ति के मर्म को छूती हैं और एक मार्मिक वेदना एवं महान संघर्ष की

प्रेरणा अन्तःकरण में व्याप्त कर देती है। लेखक ने अपने जीवन के दुखों एवं कठिनाईयों के अनुभव एवं तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराईयों और कुरीतियों के अनुभव को अपनी आत्मकथा में यत्र तत्र प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया है। जाति प्रथा की समस्या एवं बुराईयों पर लेखक ने प्रश्न अवश्य उठाये हैं किन्तु उसमें दृढ़ता के साथ विरोध देखने को नहीं मिलता है। इसका मुख्य कारण शायद यह है कि वह उन संस्कारों से शायद स्वयं भी मुक्त नहीं हो पाए हैं। किन्तु इतना होते हुए भी यह प्रशंसा के योग्य है कि उन्होंने जाति प्रथा की बुराईयों को समझा और अपनी आत्मकथा में उसका उल्लेख किया और राजनीति से दूर रहकर समाज के सजग प्रहरी की भांति अपने दायित्व का निर्वहन किया।

संदर्भ सूची–

1. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0 सं0 32।

2. वही, पृ0 सं0 53।

3. ''ब्रह्मचार्यसि, अपोशन, कर्म कुरू,
मा दिवा सुषुप्तिः, समिधः आधेहि,
भैक्षाचर्याम् चर, सदारण्याद्
समिध आहर, उदकुंभकम् च, आचार्याधीनो वेदमधीष्व।''
वही, पृ0 सं0 51।

4. वही, पृ0 सं0 53।

5. वही, पृ0 सं0 57।

6. वही, पृ0 सं0 60।

7. वही, पृ0 सं0 64।

8. वही, पृ0 सं0 65।

9. वही, पृ0 सं0 71।

10. वही, प्राक्कथन से उद्धृत, पृ0 सं0 10।

11. वही, पृ0 सं0 118।

12. 'लेख'–'जाति प्रथा का विनाश', 'भीमराव अम्बेडकर', 'आज के प्रश्न–जाति का जहर', संपादक–'राजकिशोर', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2008, पृ0 सं0 16।

13. ''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत ।।''
ऋग्वेद–10.90.12।

14. ''न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्माभिवर्णतां गतम्।।
महाभारत, शान्ति पर्व 188.10।

15. दृष्टव्य है, 'वर्ण जाति व्यवस्था–उद्भव प्रकार्य और रूपांतरण', 'सुवीरा जायसवाल', 'अनुवादक आदित्यनारायण सिंह', ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली 2009, पृ0 सं0 168।

16. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, दिल्ली 2010, पृ0 सं0 20।

17. लेख– 'जाति दंश के आयाम', 'मस्तराम कपूर', जनसत्ता में प्रकाशित, 25 जुलाई 2010।

18. 'दलित विमर्श की भूमिका', 'कंवल भारती', साहित्य उपक्रम, इलाहाबाद 2007, पृ0 सं0 59–60।

19. लेख– 'जातिवाद का जहर', 'जनसत्ता ' में प्रकाशित, सं0– 'ओम थानवी', नवम्बर 2011।

20. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, दिल्ली 2010, पृ0 सं0 34।

21. वही, पृ0 सं0 15।

22. 'जूठन', 'ओमप्रकाश वाल्मीकि', राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2006, पृ0 सं0 14।

23. 'इतिशेष', 'नीलकठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 19।

24. वही, पृ0 सं0 18।

25. वही, पृ0 सं0 33।

26. डाक्यूमेन्ट्री फिल्म– 'इंडिया अनटच्ड', निर्देशक– 'स्टालिन', 2007।

27. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं0 2010, पृ0 सं0 57।

28. 'बाबा साहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाङमय' भाग–1, 'जाति प्रथा–उन्मूलन' में संग्रहीत 'लाहौर जातपांत तोड़क मंडल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किए गए भाषण से उद्धृत, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 2003, पृ0 सं0 108।

29. *In the Womb, no one knows caste.*
It is from the Lord's seed that the whole creation came into being.
O Pundit, how have you become Brahmin – born?
Do not lose your human birth by calling yourself a high caste.
If you are Brahmin, born of a Brahmin mother, why did not you choose to be a different way?
How you are Brahmin and I have low caste?
It is that I have blood in my veins and you have milk? (Kabir translated by Nabha 2010:55)

'सिखः वी आर नॉट हिन्दू', 'खान सिंह नाभा', सिंहस् ब्रदर्स, अमृतसर 2010, पृ0 सं0 55।

30. लेख– 'जाति दंश के आयाम', 'मस्तराम कपूर', जनसत्ता में प्रकाशित, जुलाई 2010।

31. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं0 2010, पृ0 सं0 25।

32. वही, पृ0 सं0 16।

33. वही, पृ0 सं0 26।

34. वही, पृ0 सं0 26।

35. वही, पृ0 सं0 28।

36. 'अपनी खबर', 'पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र', राजकमल पेपरबैक्स, पहली आवृत्ति 2010, पृ0 सं0 25।

37. 'बाबा साहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाङमय', 'जाति प्रथा–उन्मूलन' में संग्रहीत 'लाहौर जातपांत तोड़क मंडल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किए गए भाषण से उद्धृत, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 2003, पृ0 सं0 90।

38. वही, पृ0 सं0 92।

39. 'कंटेशस मेरिजेस, इलोपिंग कपल्सः जेन्डर, कास्ट एण्ड पेट्रियाकी इन नादर्न इंडिया', 'प्रेम चौधरी', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007, पृ0 सं0 301।

40. 'so kiyu manda akhiye
Jit jamanh rajan'

'वोमेन एण्ड सिखिज़्म, वोमेन एण्ड रीलिज़न–6', 'एन इनसाइक्लोपीडिया ऑन वोमेन इन डिफ्रेंट रीलिज़न ऑफ दि वर्ल्ड', 'अनिल मिश्रा', रीगल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 26 (श्री गुरु ग्रंथ साहिब का अनुवाद)।

41. 'स्त्री उपेक्षिता', 'सिमोन दि बोउवार', 'जीवनी, संदर्भ एवं प्रस्तुति',अनुवादक–'डॉ0 प्रभा खेतान', हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004, पृ0 सं0 383।

तृतीय अध्याय

इतिशेष का शिल्प विधान

इतिशेष का शिल्प विधान

प्रत्येक साहित्यक रचना के दो पक्ष होते हैं– पहला 'भाव पक्ष' और दूसरा 'शिल्प पक्ष'। भाव पक्ष का संबंध रचना की विषयवस्तु से होता है जिसमें लेखक ने 'क्या कहा है' इस पर बल दिया जाता है, जबकि शिल्प पक्ष के अन्तर्गत लेखक ने 'अपनी बात या भावनाओं को कैसे कहा है', यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। शिल्प के प्रमुख तत्त्वों में भाषा तथा शैली का महत्वपूर्ण स्थान है। शिल्प की दृष्टि से 'नीलकंठन नंपूतिरी' की आत्म़कथा 'इतिशेष' अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। यह चार भागों–'पृष्ठभूमि', 'शिक्षा–दीक्षा', 'कर्मक्षेत्र', 'इतिशेष' में विभक्त है। लेखक ने 'बचत उधार समिति' का संचालन किया था। इस कारण उन्होंने अपनी आत्मकथा का शीर्षक 'इतिशेष' इस समिति के बही–खातों से लिया है। यह सांख्यिकीय का शब्द है। 'इतिशेष' का अर्थ है– 'रोकड़ बाकी' या 'जमा शेष'। शीर्षक का चुनाव करते समय लेखक को यह ध्यान रखना होता है कि वह संक्षिप्त, आकर्षक तथा सरल हो। लेखक ने अपने प्रारंभिक जीवन से लेकर अब तक के जीवन का जो जमा शेष है, उसका वर्णन अपनी आत्मकथा में किया है। 'इतिशेष' शीर्षक संक्षिप्त तथा सरल होने के अतिरिक्त लेखक के मंतव्य को स्पष्ट करने में सक्षम है। आत्मकथा के शीर्षक के चुनाव के विषय में लेखक ने स्वयं कहा है–

'' मेरा यह निर्णय बहुत पुराना था कि यदि मैं अपनी आत्मकथा लिखने का साहस कभी करूँ तो उसका शीर्षक बचत उधार समिति की खाता–बहियों से निकला शब्द 'इतिशेष' ही होगा।''[1]

शीर्षक के संक्षिप्त तथा सरल होने के साथ–साथ आत्मकथा में घटनाओं को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में यह असफल मानी जाती है। 'नीलकंठन नंपूतिरी' ने अपने बचपन से लेकर अब तक की घटनाओं को

क्रमबद्ध तरीके से रखा है। अतः इस दृष्टि से 'इतिशेष' को सफल कृति कहा जा सकता है।

भाषा–

भाषा केवल सम्प्रेषण का माध्यम ही नहीं होती है, बल्कि वह एक समूची संस्कृति की संवाहक एवं प्रतिनिधि भी होती है। उसमें एक समाज की परंपरा, उपलब्धि, संस्कार, ज्ञान, सोच आदि सभी का समावेश होता है। 'राजेन्द्र यादव' का भाषा के विषय में यह मानना है कि–

'' भाषा केवल अभिव्यक्ति ही नहीं, चिंतन प्रक्रिया भी है। हम शब्दों में ही सोचते और अनुभव करते हैं। भाषा, यानी जिंदगी खोखली, व्यर्थ, बेमानी, फिजूल और बेतुकी हो गई है–भाषा की अनुपस्थिति में सोचना किस तरह संभव होता, मेरे लिए कल्पनातीत है।''[2]

अन्य विधाओं के समान आत्मकथा में भी भाषा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मकथा में लेखक भाषा के माध्यम से अपनी संवेदना, समाज तथा जीवन को अभिव्यक्त करता है। इस कारण भाषा का स्पष्ट, सरल तथा प्रवाहपूर्ण होना आवश्यक है। आत्मकथा में कलात्मकता के स्थान पर लेखक की ईमानदारी का ज्यादा महत्व होता है क्योंकि प्रत्येक पाठक आत्मकथा को पढ़ते समय यह देखना चाहता है कि लेखक ने कितनी ईमानदारी तथा तटस्थता से अपने जीवन का विश्लेषण किया है। ईमानदारी से लिखी गई आत्मकथा की भाषा स्पष्ट एवं बेबाक होगी क्योंकि उसमें बिना किसी भय के स्वतंत्र होकर अपने जीवन की कथा को सामने रखा जाता है। 'मीनेश शर्मा' ने आत्मकथा की भाषा के संबंध में कहा है कि–

''जहाँ साहित्य की अन्य विधाओं में कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया जा सकता है तथा पात्रानुकूल शब्दचयन कर वास्तविकता से बचा जा सकता है वहीं आत्मकथा रचनाकार

को ऐसी कोई छूट नहीं देती। जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा अकृत्रिम तथा जीवंत होती है।''[3]

नीलकंठन नंपूतिरी की आत्मकथा 'इतिशेष' अपने शिल्प के कारण बेजोड़ बन पड़ी है। इस आत्मकथा की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि एक दक्षिण भारतीय ब्राह्मण लेखक के द्वारा यह हिन्दी में लिखी गई है। लेखक ने हिन्दी भाषा से लगाव के कारण अन्य भाषा में अपनी आत्मकथा न लिखकर हिन्दी में लिखा। लेखक ने अपनी तीव्र पैनी दृष्टि से समाज में व्याप्त बुराईयों को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ देखा परखा है और उसे अत्यन्त सशक्त भाषा में प्रस्तुत किया है। लेखक का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनकी आरंभिक शिक्षा दीक्षा भी संस्कृत में हुई थी। इस कारण हिन्दू धर्म के संस्कारों एवं संस्कृत भाषा का प्रभाव लेखक पर विशेष रूप से पड़ा। इन संस्कारों का लेखक पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका वर्णन करते हुए लेखक कहा है कि–

''मेरा जन्म वैकम सत्याग्रह एवं मंदिर–प्रवेश की घोषणा के बीच हुआ था, जब संक्रान्ति काल शुरू होने वाला था। बालक के रूप में मेरे मन में यही धारणा भरी जा रही थी कि जन्म जन्मान्तर के पाप से कोई नीच जाति में पैदा होता है और उसकी पाप मुक्ति का एकमात्र रास्ता ब्राह्मणों की सेवा सुश्रुषा करना और उनको अशुद्ध किये बिना उनसे निश्चित दूरी का पालन करना है।.....मैं इन धारणाओं को परम सत्य मानता था। और मेरे सामने यह विभिषिका थी कि यदि मैं इन नियमों का पालन न करूँ तो अगले जन्म में चांडाल योनि में जन्म लूँगा। उस जमाने के एक बालक के लिए इससे बड़ी विपत्ति कुछ हो नहीं सकती थी।''[4]

लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ–साथ बाह्य जीवन एवं लेखन पर इन संस्कारों का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। इस कारण उनकी आत्मकथा में संस्कृतयुक्त तत्सम शब्द अधिक मात्रा में मिलते हैं, जैसे– दुश्चरित्र, पुण्याचरण, अर्जन–वितरण, प्रक्षेप पथ, निषिद्ध, परिवाज्रन, अक्षुण्ण, अंतरित, नैष्ठिक, सर्वादृत आदि। इसके साथ–साथ

अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग भी लेखक ने अपनी आत्मकथा में किया है जैसे– लंच, स्कूल, क्लास, प्रिपरैटरी, फ्लैट, मैनुअल, ड्रामा, पर्सनल, ट्यूशन आदि। लेखक का संबंध बचपन से ही केरल से रहा है, अतः उनकी आत्मकथा में मलयालम भाषा के शब्द स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणस्वरूप 'छुआछूत' के लिए मलयालम में 'तींटल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह 'एक विशेष प्रकार के छाते' के लिए 'मरक्कुडा', 'प्रवेश कक्ष' के लिए 'पटिप्पुरा', 'नंपूतिरी स्त्री' के लिए 'अंतर्जनम', 'जमींदार' के लिए 'जन्मीं' तथा 'पहाड़ी देवता' के लिए 'वायिल्लाक्कुन्निल् अप्पन' तथा 'उपनयन संस्कार' के लिए 'पुणूल कल्याणम्' शब्द प्रचलित हैं। लेखक ने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मुहावरों तथा सूक्तियों का प्रयोग भी किया है। जैसे सोते हुए सिंह के मुख में हिरन स्वयं आकर प्रवेश नहीं करता, देर आए दुरूस्त आए आदि। उनके अनुसार मलयालम में शुभारंभ के लिए हिन्दी के 'श्री गणेश' के स्थान पर 'हरिः श्री' का प्रयोग किया जाता है।

लेखक ने अपने जीवन की कथा को सरल तथा स्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किया है, किन्तु सीधी–सरल भाषा में लेखक ने जो वर्णन या कथ्य प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। केरल की जाति व्यवस्था एवं स्त्रियों की दशा का मार्मिक चित्रण करते समय लेखक ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है और इसमें उन्होंने सफलता भी प्राप्त की है। जैसा कि–

'' बीसवीं सदी के प्रथम पाद के अंत तक स्थिति यह थी कि अवर्ण शूद्र जाति के लोगों को राजमार्ग पर चलने का अधिकार नहीं था। उनके चलने के लिए कुछ निश्चित गलियाँ होती थीं या फिर वे खेतों से होकर जाते थे। जब भी उनको मुख्य सड़क पार करना होता था तो वे एक विशेष प्रकार की आवाज़ निकालते थे ताकि ब्राह्मण उनसे बचे रहें। उन पर किये जाने वाले अत्याचारों की कहानी आज के बच्चों को सुनाएँ तो वे उन पर विश्वास नहीं करेगें।''[5]

जाति प्रथा की बुराईयों को लेखक ने व्यापक रूप से अपनी आत्मकथा में रखा है, किन्तु इन बुराईयों को उजागर करते समय दलित लेखकों के समान इनकी भाषा में आक्रोश नहीं दिखाई पड़ता है। भाषा पर लेखक ने पूरी तरह से पकड़ बनाई रखी है, यद्यपि कहीं–कहीं संस्कृतयुक्त तत्सम शब्दों की अधिकता से भाषा थोड़ी बोझिल हो गई है किन्तु समग्र रूप से वह लेखक के भावों को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सक्षम है। व्यक्तिगत जीवन से संबंधित घटनाओं का उल्लेख करते समय लेखक कहीं–कहीं अधिक भावुक हो गए हैं, जिसका प्रभाव उनकी भाषा पर भी परिलक्षित होता है। पिता की मृत्यु का वर्णन करते समय उनकी भाषा अधिक भावात्मक हो गई है। जैसा कि–

'' अपने प्रियजन के देहांत से उत्पन्न व्यथा बालक के मन पर जो छाप छोड़ती है वह उसके मानसिक विकास में बाधक हो सकती है। जब मृत व्यक्ति परिवार के सभी सदस्यों का संरक्षक हो और सभी पारिवारिक कार्यकलापों का केन्द्र हो तो व्यथा की तीव्रता बढ़ सकती है। घर में शोक का जो वातावरण था वह अत्यन्त मर्मभेदक था। सबसे बड़ा दुख माताओं के वैधव्य का और वृद्ध दादी के पुत्र शोक का था। अपने अनाथत्व के बारे में चिंता करने की आयु उस समय बेटों की नहीं हुई थी।''[6]

अपने कार्यकाल के दौरान लेखक को अनेक लोगों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। इनमें 'सिद्धेश्वर वर्मा' का नाम विशेष से उल्लेखनीय है। लेखक जब उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन करते हैं तो उस समय उनकी भाषा अधिक चित्रात्मक हो जाती है। उन्होंने वेशभूषा के माध्यम से उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उभारने का प्रयास किया है। उदाहरणस्वरूप–

'' डॉ0 वर्मा की भव्य मूर्ति की पहचान उनकी सफेद पोशाक, साफा और विशेष बनावट की सफेद दाढ़ी थी जो कुछ–कुछ फ्रेंच कट से मिलती है।''[7]

इस प्रकार लेखक ने आलंकारिक भाषा के स्थान पर सरल, प्रवाहयुक्त एवं सहज भाषा का प्रयोग अपनी आत्मकथा में किया है। तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराईयों को लेखक ने अत्यन्त सजीवता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है।

शैली–

किसी भी रचना में भाषा के साथ–साथ शैली का भी महत्व होता है। शैली शब्द 'अंग्रेजी' के 'style' से बना है, जिसका हिन्दी में अर्थ 'तकनीक' होता है। डॉ0 स्नेहलता शर्मा ने शैली का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि–

'' अंग्रजी में शैली का अर्थ है स्टाइल। इसकी उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'स्टाइलस' अर्थात् लेखनी से हुई है। किसी भी व्यक्ति के अक्षरों की बुनावट को 'स्टाइल' कहा जाता है, अक्षरों की बनावट चूंकि भाव तथा अनुभूति से जुड़ी होती है इसलिए धीरे–धीरे 'स्टाइल' शब्द भावाभिव्यक्ति से जुड़ गया तथा 'स्टाइल' शब्द को व्यक्तित्व का पर्याय माना जाने लगा।''[8]

प्रत्येक लेखक की शैली उनके व्यक्तित्व के अनुसार अलग–अलग होती है। शैली का प्रभाव लेखक की रचना पर भी अवश्य पड़ता है, वह लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं विचारों से परिचित कराती है। 'डॉ0 मैनेजर पाण्डेय' ने अपनी पुस्तक 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' में किसी भी रचना के अन्तर्गत शैली के महत्व को निरूपित करते हुए कहा है कि–

'' साहित्यिक कृति में शैली केवल भाषा का एक पक्ष ही नहीं है, उसमें रचनाकार की यथार्थदृष्टि और रचनादृष्टि की भी अभिव्यक्ति होती है। यही नहीं शैली का संबंध रचनाकार के युग और समाज से भी होता है। साहित्यिक आन्दोलनों के परिवर्तन और विकास के प्रभाव शैली में लक्षित होते हैं।''[9]

आत्मकथा लेखन की भी अपनी शैली है। शैली के कारण ही एक व्यक्ति की आत्मकथा दूसरे व्यक्ति की आत्मकथा से भिन्न होती है। आत्मकथा की शैली प्रायः 'मैं' प्रधान होती है। आत्मकथा में लेखक अपने अतीत की घटनाओं का स्मृति के आधार पर प्रस्तुत करता है, इस कारण यह 'पूर्वदृश्य शैली' पर आधारित होती है।

नीलकंठन नंपूतिरी ने आत्मकथा लिखते समय व्यंग्यात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, उद्धरण आदि शैलियों का प्रयोग किया है। अलग–अलग शैलियों का प्रयोग लेखक के व्यक्तित्व के भिन्न–भिन्न पक्षों को उजागर करता है। व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग प्रायः रूढ़ हो चुकी समाज की परंपराओं पर तीव्रता के साथ प्रहार करने के लिए किया जाता है। स्वयं उच्च कुल का अंश होते हुए लेखक ने ब्राह्मण समाज में व्याप्त बुराईयों एवं अंधविश्वासों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया है और जहाँ भी उन्हें यह बुराई दिखाई पड़ती है वहाँ पर उन्होंने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए अपनी बात को पाठकों के सामने रखा है। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी उन्हें जीवन भर अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। इस कारण जो लोग ब्राह्मण कुल में जन्म लेने पर गर्व करते हैं, उन पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने कहा है कि–

''क्या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने मात्र से किसी को कोई विशेषाधिकार प्राप्त हो जाता है? यदि सनातनी परंपरा में आपकी आस्था गहरी हो तो शायद आप इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देगें। क्योंकि ब्राह्मण भूदेव हैं, अर्थात् पृथ्वी पर निवास करने वाले सशरीर देवता। विराट पुरूष के मुख से उनकी उत्पत्ति हुई है।.....और ब्राह्मण यदि दुश्चरित्र हो तो भी उनकी पूजा की जानी चाहिए।''[10]

लेखक ने अनेक स्थलों पर अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उद्धरण शैली का प्रयोग किया है। विशेष रूप से बाह्मण कुल की उत्पत्ति एवं विभिन्न संस्कारों का उल्लेख करते हुए लेखक ने संस्कृत के अनेक उद्धरण दिए हैं। ब्राह्मण को वेदों तथा मंत्रों का ज्ञाता माना जाता है और ईश्वर को मंत्र के अधीन माना जाता है। ब्राह्मण कुल

की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए लेखक ने इसे उद्धरण शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है–

'' दैवाधीन जगत्सर्वम्
मंत्राधीनम् तु दैवतम्।
तन्मंत्रम् ब्रह्मणाधीनम्
तस्माद् विप्रो हि देवता।।''[11]

अर्थात् सारा संसार ईश्वर के अधीन है और ईश्वर मंत्रों के अधीन है। मंत्र ब्राह्मण के अधीन है और निष्कर्षतः ब्राह्मण ही ईश्वर है। ब्राह्मण समाज में व्याप्त अंधविश्वास तथा बुराईयों एवं ब्राह्मणों के प्रभुत्व का वर्णन करते समय लेखक ने 'चमारिन की बारह संतानें', 'कवि का पितृत्व और ज्योतिषी की जात' शीर्षक वाली प्राचीन कथाओं का उदाहरण भी दिया है। लेखक ने अपनी व्यक्तिगत जीवन से संबंधित समस्याओं का उल्लेख करते हुए वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। पिता की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति के बंटवारे को लेकर लेखक के दो मामा के बीच कलह उत्पन्न हो गई थी क्योंकि उस समय लेखक और उनके भाई की आयु बहुत कम थी, इसलिए उनके दोनों मामा ने घर तथा बाहरी की जिम्मेदारी का भार अपने ऊपर ले लिया। सम्पत्ति पर लेखक एवं उनकी माँ का अधिकार न होने के कारण उनकी आर्थिक दशा उस समय कैसी थी, इसका वर्णन उन्होंने वर्णनात्मक शैली में इस प्रकार किया है–

'' बहुत संपन्न परिवार के सदस्य होने पर भी निजी खर्च के लिए हम भाईयों के पास पैसे नहीं होते थे। हम भी बाल्यावस्था को पार करके किशोर अवस्था की ओर बढ़ रहे थे और निजी पैसों के महत्व को पहचानने लगे थे। माताओं की स्थिति कुछ भिन्न नहीं थी। उनके पास पैसे कभी भी सीधे नहीं आते थे। लेकिन वे गाय बकरी पालकर कुछ पैसे एकत्र कर लेती थीं और उसी में से हम लोगों की आवश्यकता भी पूरी होती थी।''[12]

केरल की अनेक प्रथाओं में से एक रूदालियों की प्रथा थी। ऐसी प्रथाओं का उल्लेख करते समय लेखक की शैली थोड़ी विवरण प्रधान हो गई है। उदाहरणस्वरूप–

'' उस समय 'रूदालियों' की प्रथा केरल में भी थी। जब किसी बड़े घर में किसी की मृत्यु का समय आसन होता है तो खेत में काम करने वाले 'पुलय' जाति के लोगों की भीड़ एकत्र हो जाती है और वे कहीं छिपकर खड़े हो जाते थे। जैसे ही उनको पता लगता कि मरणासन्न व्यक्ति के प्राण पखेरू उड़ गए तो ये लोग छाती पीट–पीटकर ऊँची आवाज़ में रोने लगते थे। मेरे पिताजी के देहावसान के समय भी यह नाटक हुआ था और परिणामतः शोक का वातावरण तीव्रतर हो गया था।''[13]

इस प्रकार लेखक ने सरल एवं सीधी भाषा में अपने व्यक्तिगत जीवन एवं समाज की सच्चाईयों को सामने रखा है। उन्होंने भाषा को अलंकृत एवं चमत्कारयुक्त बनाने के बजाय स्पष्ट रूप से अपनी बात कही है और उसमें वे सफल भी हुए हैं। जाति प्रथा एवं वर्णव्यवस्था की बुराईयों का चित्रण करते समय उनकी भाषा में आक्रोश थोड़ा कम दिखाई देता है, किन्तु अपनी व्यंग्यात्मक शैली में ब्राह्मण समाज एवं उनके संस्कारों पर जो प्रश्न खड़ा किया है, वह पाठकों को सोचने के लिए मजबूर करता है।

संदर्भ सूची–

1. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', प्रस्तावना से उद्धृत, साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली 2010, पृ0 सं0 13।

2. 'कहानी स्वरूप और संवेदना', 'राजेन्द्र यादव', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण 2007, पृ0 सं0 109।

3. शोध प्रबंध– 'हिन्दी आत्मकथा – लेखन और साहित्यकारों की आत्मकथाएँ–समकालीन परिदृश्य, 1969 से 1999 तक', 'मीनेश शर्मा' , जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, पृ0 सं0 241।

4. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 19।

5. वही, पृ0 सं0 17–18।

6. वही, पृ0 सं0 59।

7. वही, पृ0 सं0 101।

8. 'आत्मकथाकार बच्चनः काव्यात्मक मूल्यांकन', 'डॉ स्नेहलता शर्मा', आर्य बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1986, पृ0 सं0 151।

9. 'साहित्य और इतिहास दृष्टि', 'डॉ0 मैनेजर पाण्डेय', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2005, पृ0 सं0 67।

10. 'इतिशेष', 'नीलकंठन नंपूतिरी', साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ0 सं0 15।

11. वही, पृ0 सं0 15।

12.वही, पृ0 सं0 62।

13. वही, पृ0 सं0 60।

उपसंहार

वर्तमान युग विज्ञान एवं तकनीक का युग है। आज के भौतिकतावादी युग में जीवन को सरल एवं विलासितापूर्ण बनाने के लिए विज्ञान ने नई से नई तकनीक विकसित कर ली है। चाँद पर कदम रखने के पश्चात् आज मनुष्य मंगल ग्रह की ओर बढ़ रहा है ताकि उस ग्रह में छिपे रहस्यों को जान सके। अपनी सुरक्षा के लिए हमने न जाने कितनी प्रकार की मिसाइलें विकसित कर ली हैं। इसके अतिरिक्त रोजमर्रा के काम के लिए भी हम मशीनों पर निर्भर हो गए हैं। जब तकनीकी विकास एवं शिक्षा के प्रसार ने हमारे जीवन तथा रहन–सहन को इतना परिवर्तित कर दिया है तो क्या कारण है कि आज भी हम रूढ़ मान्यताओं से जकड़े हुए हैं और उनसे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं? शिक्षा के विकास ने अभी तक सिर्फ हमारे बाह्य जीवन को ही बदला है, हमारी मान्यताएँ तथा सोच अभी भी पहले जैसी ही हैं, चाहे वह स्त्री के संबंध में हों या दलित के संबंध में। आज भी हम जाति व्यवस्था पर बोलने से कतराते हैं और अगर बोलते भी हैं तो सिर्फ प्रश्न करने तक सीमित रह जाते हैं।

नीलकंठन नंपूतिरी ने अपनी आत्मकथा 'इतिशेष' के माध्यम से जाति व्यवस्था की कमियों को उजागर किया है। यह आत्मकथा अन्य सवर्ण लेखकों को जाति प्रथा पर सोचने तथा लिखने के लिए मजबूर करती है। किन्तु इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि दलित आत्मकथाओं के प्रकाश में आने के पंद्रह वर्ष पश्चात् लेखक ने अब अपनी आत्मकथा के माध्यम से जाति प्रथा एवं छुआछूत पर विचार क्यों किया है? लेखक ने यह प्रश्न तब उठाये जब स्वयं उनको उन परिस्थितियों एवं पीड़ा से होकर गुजरना पड़ा जहाँ से प्रतिदिन दलितों को गुजरना पड़ता है। आज भी उनके घर जलाये जाते हैं, उन्हें उनके जाति सूचक शब्दों से बुलाकर अपमानित किया जाता है, यहाँ तक कि सवर्ण दलितों के प्रति अपनी घृणा को प्रदर्शित करने के लिए दलित स्त्रियों के साथ बालात्कार कर उनके अंगों को क्षत–विक्षत कर देते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जाति व्यवस्था को

जड़ से समाप्त किया जाए। साथ ही दलित तथा गैर दलित लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की बुराईयों का दृढ़ता के साथ विरोध करें। दलित आत्मकथाओं ने ऐसा परिवेश निर्मित किया है जिससे भारतीय हिन्दू व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन हो और समाज में व्याप्त असमानता, विषमता, अपमान, छुआछूत, ऊँच–नीच, उत्पीड़न तथा शोषण को यथाशीघ्र समाप्त किया जाए। आत्मकथा के क्षेत्र में नीलकंठन नंपूतिरी की 'इतिशेष' एक सराहनीय प्रयास है। उच्च कुल में उत्पन्न होते हुए भी उन्होंने ब्राह्मण समाज की बुराईयों को समझा और उसका वर्णन किया। साथ ही अपने जीवन के खट्टे–मीठे अनुभवों से हमें परिचित कराया। इस आत्मकथा में केरल के समाज, संस्कृति तथा परंपरा की पूर्ण झलक देखने को मिलती है। लेखक ने अत्यन्त सजीव तथा मार्मिक ढंग से अपने परिवार, समाज, संस्कार तथा स्त्री की दशा का वर्णन किया है। लेखक ने समाज तथा संस्कृति से जुड़े सभी पहलुओं को उजागर किया है। इस आत्मकथा का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि लेखक ने अपनी कृति में दलित जीवन के संदर्भों को भी छुआ है, जिससे गैर हिन्दी क्षेत्र के भारतीय समाज की जटिलता और संश्लिष्टता का पता चलता है।

'इतिशेष' आत्मकथा यह संकेत करती है कि परिस्थितियाँ धीरे–धीरे बदल रही हैं। अपने संस्कारगत खोल से पूरी तरह से बाहर न आ पाने के कारण शायद धीरे–धीरे उठने वाली यह आवाज़ अभी प्रश्न करने तक ही सीमित है। उम्मीद की जानी चाहिए कि भारत के सभी वर्ग, जाति, समुदाय या धर्म के लोग मिलकर असमानता, अन्याय, अन्धविश्वास, कर्मकांड और किसी भी तरह के शोषण के खिलाफ बौद्धिक माहौल बनाएंगें जिससे जाति और वर्ग विहीन समाज का निर्माण हो सके। मेरी दृष्टि में उच्च शिक्षा तथा शोध की यही महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए।

परिशिष्ट

फरवरी 1991 में 'केरल हिन्दी प्रचार सभा 'तिरूवनंतपुरम' में आयोजित 'अखिल भारतीय शब्दावली कार्यालय' के उद्घाटन के अवसर पर भाषण करले हुए 'श्री नीलकंठन नंपूतिरी'।

केरल हिन्दी प्रचार सभा में आयोजित 'अखिल भारतीय शब्दावली का उद्घाटन करते हुए 'प्रो0 एन0 ई0 विश्वनाथ अय्यर' एवं अन्य लोगों के साथ बैठे हुए 'श्री नीलकंठन नंपूतिरी'।

आधार ग्रंथ–

1. नंपूतिरी, नीलकंठन — इतिशेष
साहित्य सहकार प्रकाशन
नई दिल्ली, 2010

संदर्भ ग्रंथ

1. अग्रवाल, विनीता — हिन्दी आत्मकथाएँ सिद्धान्त एवं स्वरूप विश्लेषण
सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण, 1989,

2. अरूण, पोद्दार रामावतार — अरूणायन
अनुपम प्रकशन, अशोक राजपथ,
पटना 1947।

3. उग्र, पाण्डेय बेचन शर्मा — अपनी खबर
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, 2010

4. खेतान, प्रभा — अन्या से अनन्या
राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली,
प्रथम संस्करण 2010,

5. जायसवाल, सुवीरा — वर्ण जातिव्यवस्थाः उद्भव प्रकार्य और रूपान्तरण
अनुवादक– आदित्य नारायण सिंह
ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004

6. तिवारी रामचन्द्र — हिन्दी का गद्य साहित्य
विश्वविद्यालय प्रकाशनवाराणसी
छठां संस्करण 2007

7. नैमिशराय, मोहन दास — अपने–अपने पिंजरे
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

प्रथम संस्करण, 1995।

8. नेहरू जवाहर लाल — मेरी कहानी
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
तेरहवां संस्करण, 1993।

9. पाण्डेय मैनेजर — साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला,
तृतीय संस्करण 2006

10. प्रसाद, जयशंकर — प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य
लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली 2008,

11. प्रीतम, अमृता — रसीदी टिकट
पराग प्रकाशन, दिल्ली 1993

12. बच्चन, हरिवंश राय — क्या भूलूँ क्या याद करूँ
राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली 1995

13. बोउवार, सीमोन द — स्त्रीः उपेक्षिता
अनुवादक– प्रभा खेतान
हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली 2002

14. भट्ट, कमलेश — हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1989

15. भारती कंवल — दलित विमर्श की भूमिका
साहित्य उपक्रम 2007

16. यादव राजेन्द्र — कहानी स्वरूप और संवेदना
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
छठा संस्करण 2007

17. राय, बाबू गुलाब — काव्य के रूप
आत्माराम एण्ड सन्स,

दिल्ली 1958

18. राजकिशोर — आज के प्रश्न–जाति का जहर
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
तृतीय संस्करण 2008

19. सत्यार्थी, देवेन्द्र — चांद सूरज के बीरन
एशिया प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण, 1953

20. सिन्हा, सच्चिदानन्द — जाति व्यवस्था
मिथक, वास्तविकता और चुनौतियाँ
अनुवाद– अरविन्द मोहन
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

21. वाल्मीकि, ओमप्रकाश — जूठन
राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली,
दूसरी आवृत्ति 2006

22. शास्त्री, विश्वबन्धु — हिन्दी का आत्मकथा साहित्य
राधा प्रकाशन, सीताराम बाज़ार,
दिल्ली–6, प्रथम संस्करण 1984

23. शर्मा, स्नेहलता — आत्मकथाकार बच्चनः काव्यात्मक
मूल्यांकन
आर्य बुक डिपो, दिल्ली,
प्रथम संस्करण 1986,

सहायक ग्रंथ–

1. पुष्पा, मैत्रेयी — कस्तूरी कुण्डल बसै
राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली 2011

2. बच्चन, हरिवंश राय — 'दशद्वार' से 'सोपान' तक

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली 1985

3. राम, तुलसी — मुर्दहिया
राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, 2010

4. सिंह, बच्चन — हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

कोश–

1. हिन्दी साहित्य कोश', भाग–1, लेखक–अजित कुमार, ज्ञानमंडल लि0, वाराणसी 2020 सं0।

2. साहित्यिक पारिभाषिक शब्दकोश, प्रो0 महेन्द्र चतुर्वेदी, प्रो0 तारक नाथ बाली, बुक्स एण्ड बुक्स–77, टैगोर पार्क–दिल्ली, संस्करण–1992।

3. वृहद हिन्दी शब्दकोश, संपादक– 'कलिका प्रसाद', ज्ञानमंडल लिमिटेड बनारस, 1969।

4. 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी', वाल्यूम–एक।

5. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका', वॉल्यूम–2।

6. कैज़ल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर', 'एस0 एच0 स्टेनस्पर्ग', वाल्यूम–1, 1953।

पत्र–पत्रिकाएँ–

1.'जनसत्ता', संपादक– 'ओम थानवी', अंक– जुलाई 2010, नवम्बर 2011।

2.'कथादेश', संपादक– 'हरिनारायण', सहयात्रा प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली अंक– नवम्बर 2011।

3.'दलित अस्मिता', संपादक– 'विमल थोराट', इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ दलित स्ट्डीज, नई दिल्ली, अंक– जनवरी–मार्च 2011।

4.'अपेक्षा', संपादक– 'तेजसिंह', वैशाली, साहिबाबाद (गाजियाबाद)–201012, अंक– जनवरी–मार्च 2011।

5.'हंस', संपादक– 'राजेन्द्र यादव', अक्षर प्रकाशन प्रा0 लि0, अंक– जुलाई 2010।

डॉक्यूमेन्ट्री फिल्म–

1. 'इंडिया अनच्ड', निर्देशक– 'स्टॉलिन', 2007।

संस्कृत ग्रंथ–

1. ऋग्वेद।

2. महाभारत

सहायक अंग्रेजी पुस्तकें–

1- Chowdhry, Prem. *Contentious Marriages, Eloping Couples*: *Gender, Caste, and Patriarchy in Northern India*. New Delhi: Oxford University Press,*2007.*

Mishara, Anil . *Woman and Sikhism* .*Woman and Religion* -6, An Encyclopedia on Woman in Different Religions of the world. New Delhi. Regal,2011

Nabha, Singh Khan. *Sikhs we are not Hindus*. Amritsar: Singh Brothers.2010

सहायक शोध प्रबंध–

1. शोध प्रबंध– 'हिन्दी आत्मकथा – लेखन और साहित्यकारों की आत्मकथाएँ–समकालीन परिदृश्य, 1969 से 1999 तक', 'मीनेश शर्मा' , जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय।